CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सद्दर्शनम्

श्रीरमणाश्रम

तिरुवण्णामलै : : दक्षिण भारत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सद्दर्शनम्

श्री भगवान् रमण महर्षि विरचित तमिष् ग्रन्थ के संस्कृत अनुवाद का हिन्दी भाषांतर

अनुवादक

स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती

ज्योतिर्मठ, बदरिकाश्रम, हिमालय

प्रकाशक

टि॰ [illegible] वेंकटरामन

(प्रसिडेन्ट, बोर्ड आफ़ ट्रस्टीस्)

श्रीरमणाश्रम

तिरुवण्णामलै : : दक्षिण भारत

सरा संस्करण] १९७९ [मूल्य रु. २

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri
इस पुस्तक का सब अधिकार प्रकाशक ने अपने स्वाधीन रखा है।

पहला संस्करण—1955
दूसरा संस्करण—1968
तीसरा संस्करण—1979

प्रतियाँ 2000

रमणी ब्रदर्स मुद्रणालयः
4, सर्. सि. पि. रामस्वामि ऐयर्. वीथी।
अभिरामपुरम् मद्रास्—600 018.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

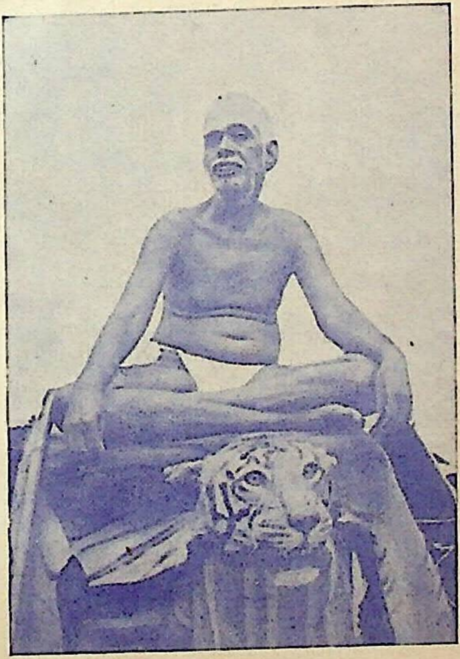

भगवान श्री रमणमहर्षि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूमिका

—०—

यह ग्रन्थ भगवान रमण महर्षि ने तमिऴ् में लिखा था। इसका श्री वासिष्ठ गणपति मुनि ने संस्कृत में अनुवाद किया। अनुवाद यह काम उन्होंने उस समय पूरा किया था जब वे सिरसी—उत्तर कर्नाटक—में तीव्र तपश्चर्या कर रहे थे।

श्री भारद्वाज कपाली श्री गणपति मुनि के प्रसिद्ध शिष्य थे। वे काफ़ी समय तक अपने गुरु के साथ रहते थे। उन्होंने ही उसका संस्कृत भाष्य लिखा और अंग्रेज़ी अनुवाद भी किया। उन दोनों पुस्तकों को हमने प्रकाशित किया है।

हिमालय-प्रदेश के ज्योतिर्मठ के श्री स्वामी स्वरूपानंद जी सरस्वती ने श्री कपाली शास्त्री के संस्कृत अनुवाद के आधार पर अपनी गंभीर प्रस्तावना सहित यह हिन्दी भाष्य तैयार कर अनुग्रहीत किया है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस छोटी सी बहु-मूल्य पुस्तक से हिन्दी भाषी साधकों मार्गदर्शन के साथ-साथ प्रेरणा भी प्राप्त होगी।

यथा-क्रम इस पुस्तक के प्रकाशन में भी भगवान व आश्रम के परम भक्त श्री हरिहर शर्मा ने पूरा सहयोग दिया है।

श्री रमणाश्रम,
1-3-'55

प्रकाशक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रस्तावना

आधुनिक युग के लिए महर्षि रमण

वर्तमान युग के भोगवादरूप दावानल में झुलते प्राणियों के लिये महर्षि रमण शीतल सरोवर हैं। आज का मानव, प्रकृति के ऊपर अपने अधिकार के मोह में, भौतिक गवेषणा के दर्प में, खोया हुआ किन्तु साथ ही दृश्य में किसी अज्ञात अभाव की छाया की अनुभूति लिये आलोकयुक्त आकाश की ओर देखता चला जा रहा था। भौतिकवाद के मद में वह उस अव्यक्त अभाव की अनुभूति को सदा के लिये दबा देने के असफल प्रयास में लाग था। एकाएक उसने अपनी विचार-दशा के ठीक विपरीत महर्षि रमण की प्रसन्न, गंभीर वाणी सुनी और वह ठिठककर, खड़ा हो गया। महर्षि अपार शान्ति उँडेलते हुए मधुर किन्तु धीमे स्वर में कह रहे थे—

"बोद्धारमात्मातमजानतो यो
बोधः सः किं स्यात् परमार्थबोधः।
बोधस्य बोध्यस्य च सश्रयं स्वं
विजानतस्तद्द्वितयं विनश्येत्॥"

अर्थात्—आत्मा को न जाननेवाले का जो ज्ञान है क्या वह यथार्थ-ज्ञान हो सकता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञेय और ज्ञान के आश्रय स्व को जान लेने पर ज्ञान ज्ञेय रूप द्वैत ही समाप्त हो जाता है। वह चकित होकर सोचने लगा कि अभी तक तो मैं प्रत्येक अन्वेषण के समय अन्वेषणीय विषय में ज्ञेयत्व का आरोप पहले ही कर लेता था। मेरा विचार्य विषय कभी अनारोपित नहीं रहा। ज्ञान ज्ञेय के आश्रय के सम्बन्ध में विचार करने का तो मेरे निकट कोई मार्ग ही नहीं है।

यदि यह वाणी किसी अन्य साधारण पुरुष की होती तो वह उसे आदिम युग की कल्पना कह कर उपेक्षित कर देता; पर यह उस महापुरुष की वाणी थी जिसने अनुभूतिहीन वाक्यों का उच्चारण करना सीखा ही नहीं था, जो निर्वासनिक मौन को ही अपने व्यक्तितत्व का केन्द्र बना चुका था, वाह्य प्रकृति पर विजय बल के स्थान पर उससे भी ठोस आन्तर-प्रकृति पर विजय का जिसके पास बल था, समग्र साहस बटोरकर भी वह उनकी दिव्य वाणी की उपेक्षा न कर सका। उसके हृदय की सात्विक श्रद्धा ने उसे महर्षि के चरणों की ओर झुका दिया। वह उनके सम्मुख बैठकर एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगा। उसके भौतिकवाद से आक्रान्त विचार महर्षि रमण के अनुभूति एवं उपदिष्ट तथ्यों की संगति न लगा सके। जिज्ञासा ने आकर परिप्रश्न भी करवा दिया—भगवम्, क्या परमार्थ बोध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की प्राप्ति का मेरे परिचित मार्ग से कोई अन्य मार्ग है? यदि अन्य है, तो असका निर्देश कीजिये। महर्षि ने आश्वासन की मुद्रा में कहा—

"कूपे यथा गाढ़जले तथान्त
निमज्य बुद्धया शितया नितान्तं।
प्राणं च वाचं च नियम्य चिन्वन्
विन्देन्निजाहंकृतिमूलरूपम्॥"

जैसे किसी गहरे कुँऐ में खोयी वस्तु को प्राप्त करने के लिये कोई प्राण और वाणी का नियमन करके गोता लगाकर उस वस्तु को ढूँढ़ता है उसी प्रकार प्राण वाणी का निरोध करके अहम् (मैं वृत्ति) के मूल स्थान की गवेषणा के द्वारा स्व का अनुभव प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार मोह-निशा में सोकर स्वप्न-जगत में विचारण करनेवाले मानव को जिन्होंने जगाया वे अरुणाचल के सूर्य महर्षि रमण यद्यपि स्थूल कलेवर से हमारे बीच में नहीं हैं तथापि अपनी वाङ्मयी के रूप में वे और भी अधिक व्यापक हो गये हैं। हम आज भी और यहीं उनके दर्शन कर सकते हैं। उन्होंने जो ज्ञानज्योति फैलायी है वह युगों तक जिज्ञासु जनों का पथ-प्रदर्शन करती रहेगी।

महर्षि का जीवन

महर्षि रमण का जन्म दक्षिण देश में एक ब्राह्मण परिवार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में हुआ था। सोलह वर्ष की अवस्था में आप कुछ रुग्ण हुए। उस अवस्था में सहज ही आपको मरण-दशा का अनुभव हुआ। वहीं से आपकी तत्व-जिज्ञासा प्रारंभ हुई। आपके हृदय में विचार आया कि "'मैं कौन हूँ?' क्योंकि मृत्यु के पश्चात् जब देह से सम्बन्ध छूट जाता है तब भी मेरा अस्तित्व रहता है। यदि शरीर के नाश के साथ-साथ मेरा नाश हो जाता, तो मरण का अनुभव कौन करता? तब फिर मैं कौन हूँ? स्थूल देह तो निश्चय मेरा स्वरूप नहीं है।" उस समय आप हाइ स्कूल के विद्यार्थी थे। इस प्रकार की गंभीर जिज्ञासा आपकी अवस्था के अनुरूप न थी; पर सर्वेश्वर की अनुग्रह-शक्ति तो आपसे कुछ और ही करना चाहती थी। आपका मन बाह्य विषयों के अध्ययन से सर्वथा उपरत हो गया। हृदय के अन्तस्तल से 'कोऽहम्' की ध्वनि बार-बार उठकर आपको व्याकुल करने लगी। आपने अपने यहाँ आये एक यात्री से अरुणाचल के बारे में सुना था। उनके मुख से भगवान अरुणाचल की महिमा सुनकर आपको अंतःकरण में उनकी सुन्दर अनुग्रहमयी मूर्ति विराजमान हो चुकी थी। आपके मन में यह कल्पना भी नहीं थी कि अरुणाचल किसी पर्वत का नाम है। हृदय में प्रेरणा होने लगी 'चलो अरुणाचल, वहीं तुम्हारी जिज्ञासा शान्त होगी'। बस, आप चल पड़े। मार्ग के सम्बन्ध में भी किसी से कुछ नहीं पूछा। किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकार आपको भगवान अरुणाचल का सान्निध्य प्राप्त हो गया। यहाँ आपने देखा कि विशाल पर्वत के रूप में भगवान अरुणाचल खडे हैं। समीप ही उनका एक मंदिर भी है। वहीं भगवान शंकर के दर्शन करके उसी विस्तृत मंदिर के एक कोने में आप शान्त होकर बैठ गये। बैठते ही हृदय में विचार आया 'मैं कौन हूँ!'। यहाँ आने पर आपकी इस जिज्ञासा ने आपको अत्यधिक अन्तर्मुख कर दिया। अन्तर्मुख विचार से आध्यात्मिक प्रकाश का अनुभव होने लगा। आप 'अहम्' के मूल का बार-बार स्पर्श करने लगे। साधना के परिपाकानुसार क्रमशः गोता भी लगाना आरंभ हो गया। अब आप अधिकांश निर्विकल्प समाधि में ही रहने लगे। देह की स्मृति घटने लगी। आप सर्वथा मौन थे। किसीसे कोई संकेत भी नहीं करते थे। खाने पीने की भी सुधि न रही। कभी किसीकी इच्छा होती आकर खिला जाता। बालकों को तो मानो खिलौना ही मिल गया था। वे वहीं आकर खेलते और परेशान करते। एक दिन आप वहाँ से उठकर समीप की अंधेरी गुफा में जाकर बैठ गये। वहाँ पहुँचने पर आप पूर्ण निर्विकल्प हो गये। लगभग एक महीने तक आपका किसीको पता भी न लगा। बालक बहुधा अन्वेषक होते हैं। वहाँ भी आपको उन्होंने खोज निकला। लगे धूल और कंकड़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फेंकने। अब की वार आपको उनसे कोई विक्षेप नहीं हुआ। बालकों की इस क्रिया से आकृष्ट होकर किसी भक्त पुरुष ने जाकर देखा और गुफा से निकालकर आपको किसी अन्य सुरक्षित स्थान में ले जाकर विठा दिया। कीड़ों और मच्छड़ों के काटने तथा बालकों के कंकड़ों से आपकी देह में अनेक घाव हो गये थे; पर उससे आप अप्रभावित ही रहे। उस समय देह से आप सर्वथा असंग थे। इस प्रकार आपका कई वर्षों तक अखण्ड तप चलता रहा। सर्वथा मौन रहने के कारण आपकी निष्ठा का यथार्थ परिचय किसीको प्राप्त नहीं हो सका। अब आपके हृदय में अनुग्रह-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। एक दिन इसके मूल तमिष् ग्रन्थ के संस्कृत अनुवादकर्ता वासिष्ठ गणपतिमुनि ने लाखों की संख्या में जप तथा तितिक्षा रूप तप करके निराश होकर आपके चरणों में जाकर तप के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब आपका चिर मौन टूटा और आपने धीरे-धीरे कहा। "जहाँ से अहम् का उदय होता है उस मूल स्थान का बार-बार स्पर्श, जप और उसमें दीर्घ कालिक अवस्था ही तप है।" तब से लेकर आप बराबर यदा-कदा जिज्ञासुओं को सदुपदेश देकर कृतार्थ करते रहे। प्रस्तुत ग्रन्थ महर्षि के द्वारा तमिष में विरचित ग्रन्थ का संस्कृत अनुवाद है। श्री वासिष्ठ गणपतिमुनि ने मूल के भावों की कुशलता-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्वक रक्षा करते हुए प्रसाद-गुण-युक्त संस्कृत में इसका उतने ही छंदों में अनुवाद किया है।

महर्षि रमण की साधना-प्रणाली

उपनिषदों और महर्षि रमण की अनुभूति में यद्यपि कोई अन्तर नहीं है तथापि उनकी प्रणाली में विलक्षणता है। वर्तमान काल में प्रचलित तत्व विचार की प्रणाली में साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी 'तत्वमसि'-तत् त्वं असि-इन पदों से 'तत्' पद लक्ष्यार्थ व्यापक ब्रह्म की 'त्वम्' पद लक्ष्यार्थ कूटस्थ साक्षी से 'असि' के द्वारा एकता का अनुभव करता है। इस प्रकार महावाक्य के द्वारा जो अखण्डार्थ की अनुभूति होती है वह यथार्थ तत्व साक्षात्कार ही है। क्योंकि इसमें श्रुति द्वारा परोक्ष रूप में ज्ञात 'सत्य ज्ञान अनन्त' स्वरूप ब्रह्म को प्रत्यक्चैतन्य से अभिन्न समझकर ब्रह्मविषयक परोक्षत्व और जीवविषयक परिच्छिन्नत्व का निरास करके 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' के आश्रयभूत चिन्मात्र तत्व का ही अवगम किया जाता है। इस में 'त्वम्' पद लक्ष्यार्थ को ही 'तत्' पद लक्ष्यार्थ के रूप में जानना है। इसलिये 'त्वम्' पद के शोधन की बहुत आवश्यकता है। भगवान् भाष्यकार श्री शंकराचार्य इसपर अत्यधिक जोर देते थे। यह बात उनके स्वरचित ग्रन्थों और विशेषतः माधवकृत शंकर-दिग्विजय में उस घटना से जिसमें तीर्थयात्रा के उद्देश्य से भ्रमण की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इच्छा रखनेवाले ब्रह्मसूत्र भाष्य में प्रखर पांडित्य से परिपूर्ण वृत्ति के रचयिता अपने प्रिय शिष्य सनन्दन को बार-बार 'त्वम्' पदार्थ के शोधन का ही आदेश दिया है, सूचित होता है, यदि 'त्वम्' पदार्थ के शोधन से उनका तात्पर्य केवल शास्त्रीय ज्ञान से ही होता तो वे सनन्दन जैसे विद्वान् को इस प्रकार का आदेश न देते। उनका सिद्धान्त था कि जब तक साधक निर्विकल्प समाधि का अनुभव नहीं कर लेता तब तक उसका 'त्वम्' पदार्थ शोधित ही नहीं हो सकता। शोधित 'त्वम्' पदार्थ का ही महावाक्य में अभेद निर्देश है। भगवान् भाष्यकार के इस अभिप्राय को न समझ सकने से भूल भी हो सकती है। बहिर्मुख जन शास्त्रीय विवेचन से ही मिथ्या आत्मतोष कर सकते हैं। महर्षि रमण ने इसका मार्ग ही साफ़ कर दिया है। उन्होंने सद्दर्शन में स्पष्ट बतलाया है—

"सत्यास्थितिर्नाहमुदेति यत्र
तच्चोदयस्थानगवेषणेन।
विना न नश्येद्यदि तन्न नश्येत्
स्वात्मैक्यरूपा कथमस्तु निष्ठा॥" (29)

सत्या स्थिति वह है जिसमें सीमित 'अहम्' का उदय ही न हो। उस सीमित 'अहम्' का नाश उदयस्थान के अन्वेषण के बिना नहीं हो सकता और जब तक उसका नाश नहीं हो जाता तब तक अभेद-निष्ठा कैसे हो सकती है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अहम्' के मूल स्थान में विलय के जो साधन उन्होंने बताये हैं वे सर्वथा समाहित कर देनेवाले है। उनका फल निरालम्ब स्थिति, निर्विकल्प समाधि है। महर्षि द्वारा उपदिष्ट आत्मनिष्ठा के तीनों साधनों के द्वारा यह विषय स्पष्ट होता है। उपरि-निर्दिष्ट साधनों का आदेश करनेवाला उनके मुख-कमल से सहज ही विनिःसृत यह सुंदर गीर्वाण वाणी का पद्य कितना प्रेरक है!

"हृदयकुहरमध्ये केवलं ब्रह्ममात्रं
ह्यहमहमिति साक्षादात्मरूपेण भाति।
हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा
पवनचलनरोधादात्मनिष्ठो भव त्वम्॥"

अर्थात्—हृदयाकाश में (अहम् वृत्ति के स्फुरण का मूलस्थान ही हृदयाकाश है) केवल ब्रह्ममात्र 'अहम्' 'अहम्' इस प्रकार साक्षात् आत्मरूप से ही प्रकाशित हो रहा है। उसका साक्षात्कार करने के लिए मन से 'स्व' का अन्वेषण करते, डूबते हुए अथवा प्राण की गति का निरोध कर हृदय में प्रवेश करो और उस 'स्व' प्रकाश ब्रह्म का 'अहम्' रूप से अनुभव करके आत्म निष्ठ हो जाओ। यदि इसमें केवल अहन् के मूलस्थान की गवेषणा का ही उपदेश होता तो जिसके अन्तः करण में परोक्ष ब्रह्मविषयक श्रोत संस्कार हैं उसके लिये कुछ संशय का बीज बना रहता; पर यहाँ तो परम तत्वज्ञ महर्षि ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इच्छा रखनेवाले ब्रह्मसूत्र भाष्य में प्रखर पांडित्य से परिपूर्ण वृत्ति के रचयिता अपने प्रिय शिष्य सनन्दन को बार-बार 'त्वम्' पदार्थ के शोधन का ही आदेश दिया है, सूचित होता है, यदि 'त्वम्' पदार्थ के शोधन से उनका तात्पर्य केवल शास्त्रीय ज्ञान से ही होता तो वे सनन्दन जैसे विद्वान् को इस प्रकार का आदेश न देते। उनका सिद्धान्त था कि जब तक साधक निर्विकल्प समाधि का अनुभव नहीं कर लेता तब तक उसका 'त्वम्' पदार्थ शोधित ही नहीं हो सकता। शोधित 'त्वम्' पदार्थ का ही महावाक्य में अभेद निर्देश है। भगवान् भाष्यकार के इस अभिप्राय को न समझ सकने से भूल भी हो सकती है। बहिर्मुख जन शास्त्रीय विवेचन से ही मिथ्या आत्मतोष कर सकते हैं। महर्षि रमण ने इसका मार्ग ही साफ़ कर दिया है। उन्होंने सद्दर्शन में स्पष्ट बतलाया है—

"सत्यास्थितिर्नाहमुदेति यत्र
तच्चोदयस्थानगवेषणेन।
विना न नश्येद्यदि तन्न नश्येत्
स्वात्मैक्यरूपा कथमस्तु निष्ठा॥" (29)

सत्या स्थिति वह है जिसमें सीमित 'अहम्' का उदय ही न हो। उस सीमित 'अहम्' का नाश उदयस्थान के अन्वेषण के बिना नहीं हो सकता और जब तक उसका नाश नहीं हो जाता तब तक अभेद-निष्ठा कैसे हो सकती है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अहम्' के मूल स्थान में विलय के जो साधन उन्होंने बताये हैं वे सर्वथा समाहित कर देनेवाले है। उनका फल निरालम्ब स्थिति, निर्विकल्प समाधि है। महर्षि द्वारा उपदिष्ट आत्मनिष्ठा के तीनों साधनों के द्वारा यह विषय स्पष्ट होता है। उपरि-निर्दिष्ट साधनों का आदेश करनेवाला उनके मुख-कमल से सहज ही विनिःसृत यह सुंदर गीर्वाण वाणी का पद्य कितना प्रेरक है!

"हृदयकुहरमध्ये केवलं ब्रह्ममात्रं
ह्यहमहमिति साक्षादात्मरूपेण भाति।
हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा
पवनचलनरोधादात्मनिष्ठो भव त्वम्॥"

अर्थात्—हृदयाकाश में (अहम् वृत्ति के स्फुरण का मूलस्थान ही हृदयाकाश है) केवल ब्रह्ममात्र 'अहम्' 'अहम्' इस प्रकार साक्षात् आत्मरूप से ही प्रकाशित हो रहा है। उसका साक्षात्कार करने के लिए मन से 'स्व' का अन्वेषण करते, डूबते हुए अथवा प्राण की गति का निरोध कर हृदय में प्रवेश करो और उस 'स्व' प्रकाश ब्रह्म का 'अहम्' रूप से अनुभव करके आत्म निष्ठ हो जाओ। यदि इसमें केवल अहन् के मूलस्थान की गवेषणा का ही उपदेश होता तो जिसके अन्तःकरण में परोक्ष ब्रह्मविषयक श्रोत संस्कार हैं उसके लिये कुछ संशय का बीज बना रहता; पर यहाँ तो परम तत्वज्ञ महर्षि ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पहले ही उनका उच्छेद कर दिया। महावाक्यार्थ के विचार में पृथक् पृथक् 'तत् त्वम्' पदार्थों का शोधन करके 'असि' पद के द्वारा दोनों की एकता का अनुभव किया जाता है। इधर महर्षि ब्रह्मबुद्धि से ही 'त्वम्' पदार्थ के शोधन का निर्देश कर रहे हैं। अहंग्रह उपासकों को इस विषय में सन्देह हो। क्योंकि वे सर्वव्यापक अखण्ड ब्रह्म की अहम् रूप से उपासना करते हैं। इसमें उपासक का जोर 'अहम्' के यथार्थ स्वरूप के अन्वेषण में होकर ब्राह्मी-धारणा के दृढ़ीकरण में होता है। पर परिपक्व होने पर यह भी 'त्वम्' पदार्थ के शोधन में पर्यवसित हो जाती है। सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि से जब 'अहम्' की उपाधि विस्तृत होती है तब स्वभाविक ही सीमित अहम् विदीर्ण हो जाता है। अहम् के सम्पूर्ण विलय के पश्चात् के आरोप का आश्रय-भूत समष्टि जगत् भी प्रविलीन हो जाता है तब ब्राह्मी - धारणा भी शुद्ध स्वप्रकाश ' अहम् ' में केन्द्रित होकर भेद संस्कारों को निर्बीज कर देती है। मन्द-बुद्धि पुरुषों के लिये उपदिष्ट यह साधना भी यहीं आकर समाप्त होती है।

महर्षि रमण की साधना सीधी है, इसमें अत्युक्ति नहीं है। अन्यान्य समस्त साधनाओं का इसमें समावेश और समन्वय है। इसका अधिकारी केवल जिज्ञासु है। तीव्र जिज्ञासा ही जिज्ञासु के देहगत प्राण को जगदाकर मन के सहित देह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और जगत् से पृथक् कर स्वात्माभिमुख करके मूलस्थान स्वात्मा में विनियुक्त कर देती है। विशुद्ध जिज्ञासा से आत्मान्वेषण करने पर सगुण निर्गुण उपासना की एकनिष्ठता, नाड़ी मंथन एवं अमृत ब्रह्म नाड़ी से प्राणों का ऊर्ध्व-गमन, ये सब स्वतः हो जाते हैं। मूलस्थान में परिनिष्ठित हो जाने पर जीमन्मुक्ति और सहज समाधि साथ ही चरितार्थ हो जाती हैं। इन के लिये पृथक प्रयास नहीं करना पड़ता।

सिद्धान्त विचार

सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत्तत्व ही था। उसके अतिरिक्त कार्य कारण कुछ भी नहीं। वही सद्वस्तु ईक्षण रूप तप के द्वारा अपनी स्वरूप-भूता अचिन्त्य शक्ति से जगज्जीवाकार हो गया। श्रुति के अनेकों वाक्यों से से यह बात विदित होती है। यह समझ लेना आवश्यक है कि किस प्रकार एक ही सत् परस्पर विलक्षण जगत् और जीव के रूप में हो गया। श्रीमद्भगवद्गीता (अ. 14; श्लोक-3) में इसकी बहुत सुन्दर प्रक्रिया है—

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानाम् ततो भवति भारत॥"

अर्थात्—महद्ब्रह्म प्रकृति मेरी योनि है। जब मैं उससे गर्भ धारण करता हूँ तब समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। यहाँ पर जिज्ञासु को समझाने के लिये एक ही सद्वस्तु के शक्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और शक्तिमान् रूप दो भेद कर लिये गये हैं। भगवान् श्रीकृष्ण शक्तिमान् और महद्ब्रह्म प्रकृति उनकी शक्ति है। उस शक्ति में जो उन्होंने गर्भाधान किया है वह जीव है। इसका तात्पर्य है कि ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति ब्रह्म के अधिष्ठातृत्व में ब्रह्म के आभास को लेकर ही जगदाकार होती है। यदि ब्रह्म स्वयं जगत् और जीव के रूप में परिणत हो जाय तो जैसे दुग्ध स्वयं विनष्ट होकर ही दधि के रूप में परिणत होता है उसी प्रकार ब्रह्म को भी नष्ट होना पड़ेगा। इसलिये शक्ति आभास से ही सर्व कार्य करती है। आभास की आवश्यकता पर महर्षि का वाक्य देखिये—

"देहो न जानाति सतो न जन्म
देह-प्रमाणोऽन्य उदेति मध्ये।
अहंकृति ग्रन्थि विबन्ध सूक्ष्म-
शरीर चेतो भव जीव नामा॥"

देह जानता नहीं और सत् का जन्म नहीं होता, व्यवहार के लिये देह के प्रमाण का एक अन्य ही बीच में उदय हो जाता है। उसके नाम हैं—अहंकृति, ग्रन्थि, विबंध, सूक्ष्म शरीर, चेतः और जीव। सृष्टि होने पर यही शक्ति और आभास जगत् और जीव की संज्ञा ग्रहण कर लेते हैं। शक्ति के सत्व-रज-तम—इन तीनों गुणों के तारतम्य से जगद्वैचित्र्य तथा उपाधि-वैचित्र्य से आभासों का भेद एवं स्वभाव-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैचित्र्य सिद्ध होता है। परन्तु इतना सब होते हुए भी ब्रह्म एक अद्वितीय ही रहता है। जिस प्रकार अनेक भूषणों के रूप में हो जाने पर भी स्वर्ण तथा भूषणों का स्वर्णत्व अव्याहत रहता है उसी प्रकार जगत् और जीव के रूप में प्रतीत होने पर भी ब्रह्म का ब्रह्मरूपता तथा जगज्जीव का ब्रह्म से अभेद अव्याहत ही है। प्रतीयमान् पदार्थों की पृथक् सत्ता ही भेद का सम्पादक हो सकती है; पर एक सत् से किसी अन्य सत् की उत्पत्ति असम्भव होने के कारण दोनों में सत्ता-भेद नहीं है। मिट्टी चाहे घट, शराव आदि कितने ही रूपों में प्रतीत होती रहे, पर है वह मिट्टी ही। क्योंकि घट, शराव आदि, की मिट्टी से पृथक् सता नहीं है। मिट्टी तत्व है; घट, शराव आदि प्रतीतियाँ हैं। इस सिद्धान्त को समझ लेने पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'नेह नानास्ति किंचन' अर्थात् यह सब ब्रह्म ही है और यहाँ नाना कुछ भी नहीं है। दोनों वाक्य एक ही अर्थ के संकेतक हो जाते हैं। जिस प्रकार नानात्व मिथ्या है यह वाक्य सिद्धान्त नहीं, उसी प्रकार सब कुछ ब्रह्म ही यह भी सिद्धान्त नहीं है। वास्तव में दोनों ही वाक्य एक अद्वितीय सत्ता को लक्षित करते हैं जो किसी भी शब्द अथवा वृत्ति का विषय नहीं है। इस प्रकार तत्व के मुख्य और गौण दो भेद करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। वास्तव में

2

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्ण अद्वैत वही है जिसमें अद्वैतावस्थान के लिये किसी भावनाविशेष की आवश्यकता न पड़े । इसीलिये भगवान रमण ने ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय रूप त्रिपुटी का आश्रय एवं त्रिपुटी से अतीत आत्मतत्व का अन्वेषण करके उसमें दृढ़-निष्ठा को ही अभीष्ट-स्थिति बतलाया है—

"तस्य स्मृतिस्तत्र दृढ़ैव निष्ठा ।
अहंकृतिं यो लसति ग्रसित्वा
किं तस्य कार्यं-परिशिष्टमस्ति ॥"

अर्थात्—उसमें दृढ़-निष्ठा ही उसकी स्मृति है, जो अहंकार को खाकर सुशोभित हो रहा है। उसके लिए कौन सा कार्य परिशिष्ट रह गया? इत्यादि। इन वाक्यों से निर्दिष्ट अद्वैतावस्थान सहज है, भावनात्मक नहीं। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि—यह तो समाधि काल की स्थिति हुई। व्यवहार काल में तो जगत् के प्रति कोई न कोई भावना बनानी ही पड़ेगी। अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये या तो जगत् को मिथ्या देखा जाय या आत्मरूप? इसका उत्तर यही है कि ये दोनो धारणाएँ सीमित 'अहम्' को आश्रित होने के कारण साधनावस्था में ही हो सकती हैं। सहजावस्था साधित हो जाने के अनन्तर न तो ऐसी कोई समस्या ही रह जाती और न इनकी कोई आवश्यकता ही है। श्री महर्षि ने रमण - गीता के इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न पर कि - भगवन् ! जब कि पामर और तत्वज्ञ दोनों के व्यवहार में विषयी विषय और वृत्ति रूप त्रिपुटी समान रूपेण देखी जाती है तब ज्ञानी में ऐसी कौन सी विलक्षणता है जिसके कारण वह पामर से अधिक समझा जाय ? उपर्युक्त प्रश्न का बहुत सुन्दर समाधान किया है। उन्होंने कहा है कि—

> " अभिन्नो विषयी यस्य स्वरूपान्मनुजर्षभ
> व्यापारविषयौ भातस्तस्याभिन्नौ स्वरूपतः ।
> विभिन्नो विषयी यस्य स्वरूपादभिमानिनः
> व्यापारविषयौ भातस्तस्य भिन्नौ स्वरूपतः ॥ "

अर्था—मनुजर्षभ ! जिसका विषय स्वरूप से अभिन्न है व्यापार-गोचर वृत्ति-विषय उसके स्वरूप से अभिन्न प्रतीत होते हैं और जिस अभिमानी का विषयी स्वरूप से विभिन्न है उसके व्यवहार के विषय, वृत्ति-विषय, उसके स्वरूप से भिन्न दीखने लगते हैं। इन वाक्यों का अभिप्राय अत्यन्त गभीर है। महर्षि का कथन है कि जब विषयी ' अहम् ' के आश्रय मूलस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है तब उसके पश्चात् जो आभास-मात्र ' अहम् ' की प्रतीति होती है वह स्वरूपावस्थिति से नीचे उतरती ही नहीं। उस समय तत्वज्ञ का व्यवहार के समय, भी सहज-समाधि बनी रहती है और जिस अभिमानी का विषयी ' अहम् ' अभी स्वरूप में विलीन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं हुआ है उसका भेदभ्रम बना ही रहता है। उपनिषदों, अद्वैताचार्यों एवं महर्षि रमण के वचनों पर विचार करने पर यही विदित होता है कि उनके द्वारा उपदिष्ट सभी भावनाएँ और साधनाएँ मूलाश्रय में परिनिष्ठित कराने के लिये हैं। सीमित 'अहम्' का ध्वंस सभी का लक्ष्य है। अधिकारी भेद से पृथक-पृथक साधनाओं पर ज़ोर दे दिया गया है। विषयी, विषय और वृत्ति इन तीनों में से किसी एक का भी विलय हो जाने पर तीनों का विलय और मूलस्वरूप सन्मात्र, भानमात्र, आनन्दमात्र स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। तीनों से सम्बन्धित साधनाओं के स्वरूप और परिणाम पर विचार करने पर यह विषय स्पष्ट हो जायगा। विषय प्रधान साधना में जब द्रष्टा-दृश्य का विवेक करके दृश्य के स्वरूप और आश्रय पर विचार किया जाता है और जब 'अहम्' के उदय का आलम्बन पंचकोशात्मक शरीर दृश्य कोटि में डाल दिया जाता है उस समय समस्त दृश्य सत्ताहीन प्रतीत होने लगता है। दृश्य को सत्ताहीन प्रतीति के रूप में देखना ही उसका मिथ्यात्व है। इस धारणा के दृढीकरण से विषय, वृत्ति और विषयी एक कोटि में आकर अपने अधिष्ठान चिदाकाश में विलीन हो जाते हैं। इनके विलीन हो जाने पर फिर मिथ्यात्व या सत्यत्व, भिन्नत्व या अभिन्नत्व किसी भी धारणा के लिये अवकाश नहीं रहता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वृत्ति की साधना में विषय और अहम् दोनों में ब्रह्म-बुद्धि दृढ़ की जाती है। सर्वमिदमहम् च वासुदेवः—यह सब और मैं वासुदेव ही है। विषय और विषयी के सम्बन्ध का आधार वृन्ति ही है। जब वृत्ति निरन्तर ब्रह्ममयी रहने लगती है तब विषय-विषयिक भेद की प्रतीति क्रमशः नष्ट हो जाती है। उस समय समस्त भेदाकार वृत्तियों को खाकर अभेद-वृत्ति रहती है। पश्चात् निरिन्धन-अग्नि के समान वह भी अपने मूलाश्रय में जाकर समाप्त हो जाती है।

वृत्ति की ही दूसरी साधना में देश काल-वस्त्वात्मक विषय को ज्ञानव्याप्त होने के कारण वृत्तिरूप और विषय-भान के अतिरिक्त वृत्ति का अन्य कोई स्वरूप न होने के कारण. वृत्ति को अपरिच्छिन्न निर्विशेष-ज्ञप्ति-रूप समझकर विषय मात्र को ज्ञानमात्र और ज्ञानमात्र को निर्विशेष ब्रह्म देखा जाता है।

विषय की साधना में जब सीमित अहम् को उसके पंच-कोश रूप सीमित अश्रयों को छोड़कर बार-बार उदयस्थान में लौटने के लिये वाध्य किया जाता है तब वह भी वेचारा पंख कटे पक्षी के समान विलीन हो जाता है। उसके पश्चात् शेष रूप से स्फुरित होता है शुद्ध अहम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

" अथाहमन्यत्स्फुरति प्रकृष्टं
नाहंकृतिस्तत्परमेव पूर्णम् " ॥

अहन्ता के विनष्ट होने पर एक अन्य अहम् का उदय होता है। वह अहंकृति नहीं किन्तु पूर्ण परमात्मा ही है। ये तीनों साधनाएँ समाहित एवं अन्तर्मुख बुद्धि से सूक्ष्म विचार द्वारा साधित होती हैं। इन सबको साधना संज्ञा इसलिये दे दी गयीं कि स्वतःसिद्ध आत्मतत्व एवं आत्म-निष्ठा (जिसमें आत्माकार वृत्ति आत्मा से अपृथक रहती हैं) ही सिद्धांत है। "नेदम् युदिदमुपासते"। यह ब्रह्म नहीं है जिसकी किसी रूप से उपासना की जाती है। जो ब्रह्म नहीं, वह सिद्धांत भी नहीं है। इस स्थल पर प्रश्न हो सकता है कि देश, काल, वस्तु में से किसी देश, काल एवं वस्तु को यह मान लेना कि यह ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म को ही परिच्छिन्न करना है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म का अनिदम् ही क्यों, इदम् भी क्यों नहीं? इसका उत्तर यही है कि इदन्तया प्रतीत होनेवाले दृश्य को ही ब्रह्म रूप मान लिया जाय तो अन्वेषण ही व्यर्थ हो जाता है। फिर तो एक प्रकार से जगत् की ही वर्तमान संज्ञा पलटकर ब्रह्म संज्ञा कर दी गयी जिससे वैराग्यवान् जिज्ञासु का कुछ भी अर्थ सिद्ध होनेवाला नहीं है। वास्तव में जहाँ कहीं भी ब्रह्म अथवा मिथ्या कहा गया है वहाँ जगत् के वर्तमान रूप का त्याग ही अभीष्ट है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिट्टी से पृथक नाम रूपवाले घट को चाहे मिट्टी कहा जाय या मिथ्या कह दिया जाय दोनों अवस्थाओं में उसमें जो पृथक्त्व की भ्रान्ति हो रही है उसका दूरीकरण ही अभिप्रेत है। विचार करके देखा जाय तो जगत् का कोई एक रूप है ही नहीं। वह देश, काल, वस्तु की असंख्य पृथक पृथक प्रतीतियों में बंटा हुआ है। समस्त प्रतीतियाँ अन्योन्याभाव (एक में दूसरी का अभाव) युक्त हैं। उस अवस्था में किसी एक को ब्रह्म कहते ही दूसरी का अब्रह्मत्व आपतित होता है। अतः एक अनन्त, अखण्ड ब्रह्म का अनुभव करने के लिये इनका त्याग करना ही पड़ेगा। घट नाम रूप को मिट्टी रूप में जानने के लिऐ एक बार उसको बाधित करने की आवश्यकता है, फिर चाहे उसको मिट्टी कह दिया जाय। उस दशा में उसका कोई पृथक तत्व स्वीकार करना उचित नहीं है। मिट्टी ही उसका तत्व है। घट-रूपता तो केवल प्रतीति ही है। प्रतीति और तत्व में अन्तर है। ब्रह्म को दृश्य से पृथक समझना उसको परिच्छिन्न करना हो सकता है पर दृश्य विलक्षण या दृश्यातीत समझना नहीं। पृथक और विलक्षण शब्द का अर्थभेद स्पष्ट किया जाता है। जैसे स्वर्ण के दो आभूषण हैं कटक और कुण्डल। कटक कुण्डल से पृथक है और कुण्डल कटक से, पर स्वर्ण दोनो से विलक्षण है। उसको उभयातीत भी कह सकते हैं। कटक नाम रूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुण्डल में नहीं और कुण्डल नाम रूप कटक में नहीं। इसलिए दोनों एक दूसरे के परिच्छेदक हैं। क्योंकि ये परस्पर पृथक हैं। किन्तु इनसे विलक्षण कारण रूप स्वर्ण के न तो कटक कुण्डल परिच्छेदक हैं और न वह इनसे स्वयं ही परिछिन्न होता है। यही स्थिति जगत् और ब्रह्म की भी है। देश, काल, वस्तु रूप जगत् परस्पर परिच्छेदक होता हुआ भी ब्रह्म का परिच्छेदक नहीं है। साथ ही जगत् से अतीत और विलक्षण ब्रह्म अपनी विलक्षणता के कारण जगत से परिच्छिन्न नहीं है। वह सर्वातीत होने के कारण ही अखण्ड, अनन्त और सर्व स्वरूप है। सर्वमेंसे किसी एक वस्तु को उठाकर सर्व-स्वरूप नहीं कहा जा सकता है। सर्व-स्वरूव तो सर्व विलक्षण ही हो सकता है। इस रीति से विचार करने पर 'नेदम् यदिदमुपासते' इस श्रुति का स्वारस्य हृदयंगम हो जाता है। इस विचार से यही सिद्ध होता है कि अद्वैत न तो कोई वाद है और न कोई वृत्ति ही। वह तो अवाङ्मनसगोचर स्वरूप ही है। वही सिद्धान्त है। वाद, विचार, वृत्ति आदि उसके अवबोध के साधन ही हो सकते हैं। साधना के लिये यह आवश्यक नहीं कि उसका उपकरण क्रिया ही हो। क्रिया, भावना, विचार सभी साधना के उपकरण हो सकते हैं। तत्व साक्षात्कार में क्रिया से अधिक भाव और भाव से अधिक निकट विचार है। जिज्ञासु अपनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

योग्यता और रुचि के अनुसार किसीका भी आश्रय ले सकता है।

> "हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा
> पवन चलन रोधादात्मनिष्ठो भव त्वम् ॥"

महर्षिजी के इस वाक्य में क्रियाप्रधान पवन चलन रोध, भावप्रधान मज्जन और विचार प्रधान अन्वेषण इन तीनों मार्गों का उपदेश है। निष्कृटार्थ यह है कि विचार को ही सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। विचार का फल है सिद्धान्त। महर्षि के जीवन तथा उपदेशों में सर्वत्र फलात्मक सिद्धान्त ही लक्षित होता है। इसीं कारण उनका उपदेश कोई मत नहीं है। उनमें सभी मतों का समन्वय है। उनका यह वचन इसी अर्थ का सूचक हैं—

> "आरभ्यते जीव जगत्परात्म
> तत्वाभिधानेन मतं समस्तम् ।
> इदं त्रयं यावदहम् मतिस्यात्
> सर्वोत्तमाहंमति शून्य निष्ठा ॥"

अर्थात्—सभी मत जीव, जगत् और परमात्मा इन तीन शब्दों का कथन करते हुए आरम्भ होते हैं। परन्तु अपने वाच्यार्थ के सहित ये तीनों शब्द तभी तक हैं जब तक अहम्-मति है। अहम्-मति के समाप्त हो जाने पर इनकी कल्पना ही समाप्त हो जाती है। अतः अहम्-मति से शून्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वप्रकाश अहम् में जो निष्ठा है वह सर्वोत्तम है। उसमें कोई भी वादी अपने मत को लेकर नहीं पहुँच सकता। महर्षि का यही सर्वातीत सर्वोत्तम सिद्धान्त है।

विषय प्रवेश

ग्रन्थ में बुद्धि के प्रवेश के लिये कुछ पदार्थों का स्पष्टीकरण आवश्यक हैं। एतदर्थ तीन पदार्थों को भली-भांति समझ लेना चाहिये जिससे प्रत्येक श्लोक का वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ हृदयंगम हो सके। तीन पदार्थ ज्ञातव्य हैं—अहम्, बन्ध और मोक्ष। अहम् क्या है? युष्मयोमदिक् इस औणादिक् प्रत्यय परक सत्तार्थक धातु से निष्पन्न अस्तम् शब्द का प्रथमैक-वचनान्त है अहम् पद। अस्मीति अहम् इस प्रकार अहम् पद की रूप-सिद्धि जाननी चाहिये। अहम् संस्कृत शब्द का अर्थ होता है मैं। 'मैं हूँ' इस अहमाकार वृत्ति द्वारा अहम् का मूल को आत्म-स्वरूप है उसका बोध होता है तथा उससे सर्व के सद्भाव-स्वरूप का ज्ञान होता है। वास्तव में सर्व की सत्ता ही सर्व का अहम् है और सत्ता निर्विशेष है। इसलिए उसमें भेद नहीं। सत्ता में जो भेद की प्रतिति होती है वह सत्ता के भेद की नहीं किन्तु उपाधि के भेद का ही सत्ता में आरोप है। उपाधि में परिवर्तन होता रहता है। पर सत्ता एक रस रहती है। उदाहरणार्थ 'मैं हूँ'। यह सत्ता है। मैं 'बुद्धिमान, मैं मूर्ख, मैं पापी, मैं पुण्यात्मा' यह उपाधि है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जब मैं बुद्धिमान रहता है तब मूर्ख नहीं है और जब मूर्ख है तब बुद्धिमान नहीं। मूर्खता और बुद्धिमत्ता परस्पर विरुद्ध हैं पर मैं परस्पर विरुद्ध नहीं है। मूर्खता को हटाकर बुद्धिमत्ता आ जाती है तथा बुद्धिमत्ता को हटाकर मूर्खता। पर दोनों स्थितियों में मैं वही रहता है। क्योंकि मैं सत्ता है। बुद्धिमत्ता, मूर्खता उपाधि हैं। जब सबकी सत्ता एक ही है तो सबको, सद्भाव-स्वरूप को जानने के लिए अपनी सत्ता अहम् का यथार्थ स्वरूप जान लेना पर्याप्त है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अहम् पदार्थ को जानने के लिये ही बहुत से मार्गों का उपदेश किया गया है। इसलिए इसका सद् दर्शन नाम अन्वर्थ ही है। जिस प्रकार उपर्युक्त रीति से सर्व-सद्भाव स्वरूप का ज्ञान अहम् के यथार्थज्ञान द्वारा हो सकता है उसी प्रकार सर्वानुभूति-स्वरूप ब्रह्म का भी अहम् बोध के द्वारा अवगम हो सकता है। सत्ता और अनुभूति एक ही सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म के वाचक हैं। ब्रह्म ही सद्रूप, चिद्रूप तथा आनन्द रूप से चराचर भूतों (पदार्थों) का अहम् (आत्मा) है। इसलिए ब्रह्म 'सर्व भूतात्म भूतात्मा' है। वही ब्रह्म अन्तःकरणों में अहम् रूप से एवं बाह्य पदार्थों में सत् रूप से अभिव्यक्त हो रहा है। विचार के द्वारा बाहर के विषयों में उसका परोक्ष ज्ञान ही हो सकता है। क्योंकि बाहर उपाधि का त्याग करके सत्ता का ग्रहण करने के लिये जीव के पास कोई उपकरण नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो इन्द्रियादि उपकरण हैं वे स्वयं उपाधि रूप होने के कारण उपाधि विलक्षण को जानने में असमर्थ हैं। इसलिये श्रुतियो में अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म आदि महावाक्यों के द्वारा अहम् रूप से ब्रह्म का साक्षात्कार निर्दिष्ट है। इन श्रुति वाक्यों से यह भी विदित होता है कि अहम् ही ब्रह्म है। किन्तु विचार करने पर व्यवहार में जिस अहम् प्रत्यय (अहम् वृत्ति) और अहम् पदार्थ का अनुभव होता है वह अपने उत्पत्ति, विलय (उदय अस्त) तथा अनेक रूपों का ग्रहण एवं त्याग करने के कारण श्रुति प्रतिपादित स्वप्रकाश ब्रह्म प्रतीत नहीं होता। इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि अहम् का यथार्थ स्वरूप क्या है? इसके लिये अहम् प्रतीयमान रूप का परीक्षण एवं मूल-रूप का अन्वेषण अनिवार्य हो जाता है। व्यवहार काल में जिस अहम् की उपलब्धि होती है वह अहम् पद का वाच्यार्थ है और जहाँ से इसका उदय एवं अस्त होता है वह मूल स्वरूप लक्ष्यार्थ है। अहम् पद के वाच्यार्थ का अपना निज का कोई स्वरूप नहीं है। उसका उदय अहम् को आधार बनाकर ही हो सकता है। जब 'मैं हूँ' इस प्रत्यय का उदय होता है तब वह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनंदमय रूप कोशों में से अन्यतम के साथ मिश्रित होकर ही होता है। अन्न के विकार रजवीर्य से निर्मित और रस रक्तादि से पोषित होने के कारण स्थूल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। क्रिया शक्ति के पाँच प्रकार प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान और पंच ज्ञानेन्द्रिय मगोमयकोश है। बुद्धि और पंच ज्ञानेन्द्रिय ही विज्ञानमय कोश हैं। सुषुप्ति में अनुभूति होनेवाली आनन्द मिश्रित अवोधावस्था आनन्दमय कोश है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को ढांकने के कारण इनको कोश कहते हैं। यथार्थ में स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीन शरीरों का ही विचार सौकर्य के लिये पाँच भागों में विभाजन कर दिया यया हैं। अन्नमय कोश स्थूल शरीर है।

प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय ये तीन सूक्ष्म शरीर हैं। सूक्ष्म शरीर में चित्त तथा अहंकार और मिला दिये जाते हैं जो वास्तव में मन जोर बुद्धि मैं गतार्थ हैं। पंच प्राण, पंच कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन उन्नीस तत्वें की मिलकर सूक्ष्म शरीर संज्ञा होती है।

आनन्दमय कोश कारण शरीर है। अपने उदय के लिये पंच कोशों के आश्रित किन्तु स्वतंत्र-मन्य (स्वयं को स्वतंत्र माननेवाला) आत्माभास अहंकार ही अहम्पद का वाच्यार्थ है। सूक्ष्म शरीर रूष होने से इसी को जीव तथा लक्ष्यभूत अन्तरात्मा का आभास होने के कारण आत्मा कहते हैं। इस प्रकार उपाधि सूक्ष्म शरीर एवं सत्ताप्रत्यगात्मा दोनों से संवन्धसंयुक्त इस अहंकार की जीवात्मा संज्ञा है। अतः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अहम्पद वाच्यार्थ का सूक्ष्म शरीर के साथ तादात्म्यानुभव है। इसलिये यह प्रति जीव-व्यक्ति भिन्न होता हुआ समस्त व्यक्तियों में पृथक् अनुभवों का ग्रहण तथा पृथक् व्यक्तित्वानुकूल व्यवहार करता है। कालत्रय में अबाधित एक ही परमात्मा अहम्पद का परमार्थ अनेक जीव व्यक्तियों का आश्रय होने के कारण अहम्पद का लक्ष्यार्थ है। एवं वही व्यक्तिगत चिदाभास है। अतः उसी को वाच्यार्थ भी कहा जा सकता हैं। इस प्रकार से परमार्थ, लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ रूप से अहम् पदार्थ का विवेचन करके उसका ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकार का ग्रहण परमार्थ बोध के लिये उपयोगी है।

बंधादि विचार

मनुष्य के सत्कर्म तथा सर्वेश्वर के अनुग्रह से जब व्यक्ति का पूर्ण विकास होता है तब बंध-ज्ञान होता है। अपक्व मनुष्यों को बंध का अनुभव नहीं हो सकता। जिस प्रकार फल अपने पूर्ण विकास की अवस्था में पक्व हो जाता है, उसी प्रकार पूर्ण विकसित होने पर मानव भी पक्व हो जाता है। बंध क्या है? चिज्जड़ ग्रन्थि (जड़ और चेतन का तादात्म्य) ही बंध है। यद्यपि सूक्ष्म-शरीर ज्ञान एवं क्रिया शक्ति से निष्पन्न होने के कारण मनःप्राणात्मक है, तथापि सूक्ष्मतर एवं चित्त-प्रकाश से सन्निहित होने के कारण कभी-कभी मन ही सूक्ष्म-शरीर कह दिया जाता है। चित्प्रकाश से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संयुक्त यह क्ष्सूम-शरीर ही देह में नित्यात्माभिमान (देह ही मैं हूँ ऐसी बुदिध) और चिदात्मा में शरीर के जन्म-मरणादि धर्मों के आरोप का साधक एवं स्वयं तद्रूप है। जिस प्रकार जपा-पुष्प के सन्निधान से स्फटिक मणि में लालिमा की प्रतीति होने लगती है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीरस्थ चिदाभास में देह-धर्म की प्रतीति तथा शरीर में चैतन्य की प्रतीति होने लगती है। यही बंध का स्वरूप है। अब प्रश्न उठता है कि बंध किसका है?

जब कि जड़ देह और चिदात्मा के बीच में व्याप्रियमाण (व्यापार युक्त रहनेवाला) सूक्ष्म शरीर ही बंध है तब सम्भवतः यह कल्पना उठ सकती है कि फिर लक्ष्यार्थ-भूत चिदात्मा ही बन्धवान् होगा। पर नित्य-सिद्ध चैतन्य का बंध नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में सूक्ष्म शरीर-पद-वाच्य बंध में कोई बन्धानुभवशाली अवश्य होना चाहिये। उस बंधानुभव-शाली स्वयं बंध-स्वरूप प्राण और मनोवृत्ति रूप सूक्ष्म शरीर से तादात्म्य का अनुभव करनेवाले आश्रय चैतन्य के अनुग्रह से वृत्ति विषयाकारता को प्राप्त करके वृत्तियों तथा विषयों को स्वीकार करनेवाले आश्रय परतंत्र किन्तु स्वतंत्र-मन्य आत्मा के रूप में आभासित होनेवाले को अहंकार कहते हैं। वही यह अहंकार रूप आत्माभास जो कि रूप-रूप में जन्म लेता है। एक रूप से दूसरे रूप में जाता है। रूप ही जिसका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आलम्बन है, रूप समुदाय में जो प्रतिष्ठित है और जिसका स्वयं का कोई रूप नहीं है अहम्पद का वाच्यार्थ होने के कारण जीव-पद-वाच्य है। आश्रय-आश्रित, बन्ध और बन्धवान् के अभेदाध्यवसाय (अभेद निश्चय) के द्वारा यह अहंकार-जीवन जीव स्वयं ही बंध और बंधवान् होता है। वास्तव में बंध रूप जीव के अतिरिक्त बंध का अन्य कोई अभिभावक नहीं है जिसको बंधवान् बतला दिया जाय। अहम्-पद लक्ष्यार्थ चिदात्मा में ही उसकी तिरोधान-शक्ति के कारण सूक्ष्म शरीर रूप बंध और अहंकार रूप बंधाभिमानी इन दोनों के प्रतीति हो रही है। वस्तु का आश्रय चाहे कुछ भी हो, पर स्वामी उसका अभिमानी ही माना जाता है। रुपये तिजोरी के भीतर रहते हैं पर रुपयों का स्वामी तिजोरी नहीं गिन्तु उसका अभिमानी धनी माना जाता है। सूक्ष्म शरीर और अहंकार का आश्रय-चैनन्य आश्रय होने पर भी बन्ध और बंधवान् नहीं किन्तु बंधाभिमानी अहंकार ही बंधमान् है। इसी चिदाभास के बन्ध-मोक्ष होते हैं। अपक्वावस्था में यही वृत्तिमय आत्माभास अहंकार विषयग्रस्त हो जाता है और परिपक्वावस्था मे यही स्वमूलाश्रय आत्मा की अन्वेषणा वृत्ति-मात्र के रूप में अवस्थित होकर आत्मेतर वृत्ति और विषयों से विमुक्त हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्माभास से युक्त इस वृत्तिमय सूक्ष्म शरीर में बीज रूप से बन्ध-मोक्ष प्रदान करनेवाली दो शक्तियाँ गुप्त हैं :— तिरोधान शक्ति और अनुग्रह-शक्ति। तिरोधान-शक्ति विभाग रहित अभेदात्म-स्वरूप में विभिन्न विभक्त व्यक्तियों का मूल-स्वरूप से पृथक् अनुभव कराती है। यह विषयाभिमुख करने में दक्ष समस्त भेदगत आवरणों का सम्पादन करने-वाली चिज्जड़-ग्रन्थि रूप बन्ध के द्वारा सर्ववृत्तियों को विषय-ग्रस्त करके सूक्ष्म-शरीरात्मना पुरुष में अवस्थित रहती है, यही बन्धन का कारण है। इसीकी अविद्या, अज्ञान आदि संज्ञाएँ हैं।

इसी बन्धमय सूक्ष्म शरीर में ही चिदात्मा की छाया को लेकर आत्मरूप से आभासमान अहंकार की कल्पना करके उसको बहुत प्रकार से प्रेरित करती हुई वृत्तिविस्तार-स्वरूप होकर स्थूल विषयों के भोग द्वारा सुख-दुःख, मोहादि का अनुभव कराके उस अनुभव के द्वारा परिपक्व बनाकर जड़, चेतन, देह और आत्मा के बन्धन को छुड़ाकर सूक्ष्म शरीरमय अहंकार को एकाग्र आत्माकार सूक्ष्मतम-वृत्ति रूप करके अनुग्रह-शक्ति अनुग्रह करती है। जीव का पुरुषार्थ और जिज्ञासा इसी अनुग्रह शक्ति का परिणाम है। यही विद्या होकर चिज्जड़ ग्रन्थि का विमोक करती है। इस प्रकार तिरोधान-शक्ति आत्मा की छाया के द्वारा उस अहंकार

3

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को वृत्त्यात्मक आवरण और विषयात्मक विक्षेप से जड़ाभिमुख करके वन्ध का हेतु होती है। और अनुग्राहक-शक्ति विषय-विक्षेप से वृत्ति को हटाकर सर्वार्थगामिनी वृत्ति का एकाग्र अहंकार वृत्ति में उपसंहार करके उसका मूल रूप जो अहम् है तदाकार तद्रूप करके अवस्थित कर देती है। दोनों शक्तियाँ सूक्ष्म-शरीर एवं चिदाभास अहंकार में अपना कार्य करती हुई रहती हैं। प्रत्येक स्थिति के कारण कल्पना करनेवालों तथा साधकों को वन्ध-मोक्ष का हेतु इन दो शक्तियों को मानकर संतोष कर लेना चाहिये।

मोक्ष विचार

वन्ध का स्पष्टीकरण हो जाने पर मोक्ष के संबन्ध में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। चिज्जड़ ग्रन्थि रूप जो वन्ध है (जिसका अनात्मा की आत्मा रूप में और आत्मा की अनात्मा-रूप में प्रतीति ही स्वरूप है) उसका उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है। यथार्थ में वन्ध-मोक्ष आत्मा के नहीं है। जिस चिदाभास का वन्ध है उसीका मोक्ष भी है। आत्मा के यथार्थ-स्वरूप का वोध हो जाने पर आत्मस्वरूप में पहले बद्ध था अब मुक्त हो गया ऐसा कोई संस्कार नहीं होता। आत्मा के सहज स्वरूप का अनुभव होने पर तो पूर्व पर के अन्तर की कल्पना ही नष्ट हो जाती है। मोक्ष किसी कर्म या उपासना के द्वारा उत्पाद्य अवस्था

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं है। वह तो स्वतःसिद्ध नित्य-मुक्त आत्मा की दृश्य-प्रपंच से सर्वथा असंगता का बोध है। आत्मा का मोक्ष औपचारिक है। क्योंकि मोक्ष उसका स्वरूप ही है। आभास के लिये यही आत्मा का नित्य-मुक्त स्वरूप से बोध मोक्षावस्था है। क्योंकि यह प्रथम ही बतलाया जा चुका है कि आभास का अपना कोई स्वतन्त्र रूप या गुण-धर्म नहीं हैं। अबोध दशा में वह अनात्मा के गुण-धर्मों का अपने में आरोप करके बन्ध का अनुभव करता है और जब स्वरूप-बोध हो जाता है तब कृतकृत्यता का अनुभव करता है। यह कृतकृत्यता ही उसका मोक्ष है। जिसका आधार है उसके मूलस्वरूप की नित्य मुक्तता, आत्म-साक्षात्कार के अनन्तर पर-दृष्टि से तत्वज्ञ का यही व्यक्तित्व है। विचार के द्वारा निरीक्षण करने पर पता लगता है कि प्रबुद्ध तत्व का अन्तःकरण एवं व्यवहार उसी प्रकार बना रहता है जिस प्रकार अप्रबुद्ध का। ग्रन्थिभेद हो जाने पर इतना ही अन्तर होता है कि उसकी ग्रन्थि का पुनः उदय नहीं हो सकता। उसका सब कुछ उसके स्वरूप से अपृथक् एवं अनर्थरहित है। यह तत्वज्ञ सम्बन्धी विवेचन पर-दृष्टि से ही किया गया है। वास्तव में तो उसकी स्थिति मन वाणी का विषय ही नहीं है। महर्षि का वचन है :—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

" किंचिद्विजानाति स नात्मनोन्यत्
तस्य स्थितिं भावयितुं क्षमः कः ? ॥ "

महर्षि के सिद्धान्तानुसार आत्म-साक्षात्कार ही मोक्ष है। इसलिये जो आत्मा का स्वरूप है, साक्षात्कार हो जाने पर मुक्त की दृष्टि आत्म-स्वरूप ही है। अन्याकार वृत्ति रखकर कोई मोक्ष स्वरूप जान ही नहीं सकता। केवल अनुमान ही कर सकता है। अनुमान से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ग्रहण सर्वथा सम्भव नहीं। मोक्ष के अनन्तर मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में तीन प्रकार की कल्पनाएँ हैं:—(1) मुक्त का शरीर रहता है। (2) नहीं रहता। (3) दोनों ही हैं। परन्तु ये तीनों कल्पनाएँ अहम्-मूलक ही हैं। महर्षि का वचन है—

" रूपिण्यरूपिण्युभयात्मिका च
मुक्तिस्त्रिरूपेति विदो वदन्ति।
इदं त्रयं या विविनक्त्यहंधी-
स्तस्याः प्रणाशः परमार्थमुक्तिः ॥ "

अर्थात्—रूपिणी, अरूपिणी, उभयात्मिका मुक्त के ये तीन रूप मुक्तिवेत्ताओं ने बतलाये हैं। किन्तु यह रूप अहम्-मूलक होने के कारण यथार्थ नहीं हैं। इन तीनों का जो अहम्-धी (बुद्धि) विवेचन करती है उसका नाश ही परमार्थ मुक्ति है। अहम्-धी का नाश स्वप्रकाश आत्मतत्व है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अहम् के साक्षात्कार से ही सम्भव है। जिस समय वृत्ति न तो अनात्म-तादात्म्य-संस्कार से युक्त हो, न अन्याकार हो, उस समय वह स्वयंप्रकाश आत्मा से तत्वतः अपृथक एवं आत्माकार ही हो जाती है। परम कारुणिक महर्षि ने रमण गीता (IV: 8) में कहा है—

स्वात्मतत्त्वं यदि ब्रह्म ज्ञातुं वृत्तिः प्रवर्तते।
स्वात्माकारा ततोभूत्वा न पृथक् प्रतितिष्ठति॥

आत्मतत्व को जानने के लिये जब वृत्ति जाती है तब आत्माकार होकर आत्मा से पृथक रहती ही नहीं है। यही आत्मसाक्षात्कार है, यही मोक्ष है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' यह श्रुति है। इसका अर्थ है ज्ञान होने पर ही कैवल्य है। ज्ञान का परिणाम या फल कैवल्य नहीं, किन्तु ज्ञान ही कैवल्य है, यह इस श्रुति-वाक्य का हृदय है।

इस संक्षिप्त प्रस्तावना से यह भली-भांति विदित हो सकता है कि पवित्र हृदय को स्पर्श करनेवाली भगवान रमण की अनुभूति कितनी प्रसाद-युक्त एवं गंभीर है, ग्रन्थ पढ़ने पर यह धारणा और भी पुष्ट हो जायगी। अभी तक यह ग्रन्थ हिन्दी भाषा-भाषियों को सुलभ नहीं था। महर्षि रमण के द्वारा तमिष् भाषा में विरचित इस ग्रन्थ के अध्ययन का सौभाग्य अंग्रेजी एवं संस्कृत भाषावित् पुरुषों को ही प्राप्त था। हिन्दी भाषा-भाषियों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह अभाव खटकता रहा होगा। गत कालपी चातुर्मास्य के समय अनेक जिज्ञासुओं की प्रार्थना एवं ब्रह्मचारी पीतमसिंह के अनुरोध से आकृष्ट होकर हमने इसका क्रमशः अनुवाद प्राप्त किया और चातुर्मास्त समाप्त होते-होते यह पूर्ण भी हो गया। सद्दर्शन जैसे गंभीर ग्रन्थ में प्रविष्ट होने के लिये अपेक्षित हृदयभूमि की आवश्यकता होती ही है। उसके निर्माण के लिये यह संक्षिप्त प्रस्तावना लिख दी गयी है। विस्तार-भय से मननीय तत्वों का इसमें सूत्र रूप ही विनिवेश किया गया है। एकाग्र होकर पढ़ने पर समझ में आ ज.यगी, ऐसी हमारी धारणा है। यदि न आ सके तो असंतुष्ट नहीं होना चाहिये। जो आ जाय वही बहुत है। यह सरल अनुवाद सहज ही समझ में आ जाय इसके लिये यथा-साध्य प्रयत्न किया गया है। यदि फिर भी कुछ कठिनता-दुरूहता रह जाय तो यह विषय का ही दोष है। वास्तव में ऐसे विषय तत्त्वज्ञ-पुरुषों के सान्निध्य में ही समझे जा सकते हैं। भगवान रमण महर्षि के तमिष् ग्रंथ के संस्कृत भाषांतर का यह हिन्दी अनुवाद है। भगवान रमण महर्षि के मुखारविन्द से निर्गत 42 पद्यात्मक सद्‌दर्शन शुक्ल-छन्द में है और वासिष्ठ गणपति मुनि द्वारा संस्कृत भाषा में अवतरित यह ग्रन्थ 44 पद्यात्म एवं उपजाति पद्य में निबद्ध है। इसके हिन्दी अनुवाद में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारद्वाज कपाली विरचित संस्कृत भाष्य से हमने अत्यधिक सहायता ली है एतदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं।

हमारा अभिप्राय पाठकों की समझ में आ जाय, यही हम चाहते हैं। इसलिये हिन्दी में भी ऐसे ही शब्दों का अधिक उपयोग किया गया है जो मूल के अधिक निकट हों। स्थान-स्थान पर उनकी परिभाषा व शब्दान्तर भी लिख दिया है।

सम्भव है हमारे प्रयास में कुछ त्रुटि रह गयी हो। यदि विद्वज्जनों ने हमें सुझाया तो हम कृतज्ञतापूर्वक वह त्रुटि दूसरे संस्करण में दूर कर देंगे। हमें पूर्ण आशा है कि हिन्दी भाषी जिज्ञासुओं को इससे लाभ होगा।

—स्वरूपानन्द सरस्वती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सद्दर्शनम्

अवतरणिका—ग्रंथ के प्रारंभ में इष्ट स्मरण रूप मंगलाचरण करना शिष्ट परिगृहीत परिपाटी है। ग्रन्थ का आदिम श्लोक इष्टस्मरणात्मक होने के साथ-साथ सत्तत्व की अस्ति रूप से प्रतीत होनेवाले पदार्थों के आश्रय-स्वरूप से और हृदय में समस्त मनोवृत्तियों के मूल अहंरूप से उपलब्धि होती है, इस विषय का प्रश्नोत्तर के द्वारा प्रतिपादन होता है।

सत्प्रत्ययाः किं नु विहाय सन्तं ?
हृद्येष चिन्तारहितो हृदाख्यः।
कथं स्मरामस्तममेयमेकं ?
तस्य स्मृतिस्तत्र दृढैव निष्ठा ॥ 1 ॥

भावार्थ—लोक में घट है, पट है, इस प्रकार जो समस्त पदार्थों में है, रूप से सत्ता उपलब्ध हो रही है वह न तो घटादि पदार्थों का धर्म है और न जाति। क्योंकि पदार्थ का परिवर्तन या नाश होने पर भी वह एक-रस रहता है। यद्यपि सद्वस्तु सर्वव्यापक है तथापि उसका यथार्थ अनुभव हृदय में ही हो सकता है। जहाँ से अहम् की स्फूर्ति होती है, उसीको हृदय कहते हैं। जिस प्रकार सूर्य की रश्मियाँ सर्वव्यापक हैं, पर सूर्यकान्त-शिला में ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनका पुंजीभाव होने से प्रतापघनत्व देखा जाता है उसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापक होने पर भी अहम् के उदय-स्थान हृदय में ही अनुभूत होता है। ब्रह्म में विषय-विषयी भेद नहीं। इसलिये उसकी स्मृति अन्य विषयों के समान नहीं हो सकती। अतः समस्त वृत्तियों का अहम्-वृत्ति में उपसंहार करने पर अहम्-वृत्ति के उदय का आश्रयभूत स्वात्मानुभव सिद्ध होता है। निरालंब स्वरूपावस्थान ही सद्ब्रह्म का स्मरण है।

क्या सत्-तत्व को छोड़कर सत् प्रतीति हो सकती है? वह सत्-तत्व हृदाख्य (हृद नामवाला) हृदय में विकल्प रहित स्वप्रकाश रूप से अवस्थित है। उस अप्रमेय एक हृदयस्थ सत्तत्व का कैसे स्मरण करें? उसमें दृढ निष्ठा ही उसकी स्मृति है।

अवतरणिका—इस प्रकार स्वानुभव-सिद्ध सहजात्मनिष्ठा का ज्ञानमार्ग से उपदेश करके भक्ति-मार्ग से पूर्ण प्राप्ति (शरणागति) का उपदेश करते हैं।

मृत्युंजयं मृत्युभियाश्रिताना-
महंमतिर्मृत्युमुपैति पूर्वम्।
अथ स्वभावादमृतेषु तेषु
कथं पुनर्मृत्युधियोऽवकाशः ॥ 2 ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

भावर्थ—मृत्यु के भय से जन्म-मरणरहित परमात्मा मृत्युंजय का आश्रय लेनेवाले की अहं-मति पहले ही मर जाती है। इसके अनन्तर जब वह स्वभाव से ही अमृत-स्वरूप हो गया, तब फिर उसमें मरण-चिन्तन के लिये अवकाश ही कैसे रहेगा ?

अवतरणिका—ब्रह्म शरण्य एवं अनुग्राहक है। इससे जगत, जीव, ईश्वर इन तीन तत्वों को स्वीकार कर लेने के कारण इनमें अत्यन्त भेद है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। इस भेद के निरास के लिये ही यह श्लोक है।

सर्वैर्निदानं जगतोऽहमश्च,
वाच्यः प्रभुः कश्चिदपारशक्तिः ।
चित्रऽत्र लोक्यं च विलोकिता च,
पटः प्रकाशोप्यभवत्स एकः ॥ 3 ॥

भवार्थ—सभी नाना-सिद्धान्तवादियों को जगत और जीव के कारण और नियामक रूप से किसी अपार शक्तिवाले प्रभु को स्वीकार करना पड़ता है। इस जगत् चित्र में दृश्य (जगत्) और द्रष्टा (देखनेवाला) पट (जगत्-चित्र का अधिकरण) और प्रकाश (जिसके द्वारा इस जगत चित्र को देखा जाता है) इन सब रूपों में वह एक ही हो गया है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् एक ब्रह्म तत्व के ही ये सब* विवर्त हैं। अर्थात् भेद को लेकर विचार का प्रारंभ होता है, पर्यवसान नहीं। विचार का पर्यवसान तो अभेद में ही है।

अवतरणिका—यदि सर्वशक्तिमान् होने के कारण एक ही परब्रह्म सत् जगत्, जीव और ईश्वरात्मक हैं तो फिर परमार्थ स्वरूप का एक रूप से ही अनुभव क्यों नहीं होता?

आरभ्यते जीवजगत्परात्म-
तत्त्वाभिधानेन मतं समस्तम्।
इदं त्रयं यावदहंमति स्यात्
सर्वोत्तमाऽहंमतिशून्यनिष्ठा ॥ 4 ॥

भावार्थ—समस्त शास्त्रीय सिद्धान्त दृश्यमान जीव (अहं पदार्थ) जगत् (दृश्यमान यह सब) और परमात्मा (ईश्वर) इन तीन तत्वों का अभिधान करते हुए प्रारम्भ किये जाते हैं। तत्वत्रय के केवल उनका प्रारम्भ ही होता है; पर्यवसान (समाप्ति) नहीं। तो फिर उनकी तीन रूप से प्रतीति क्यों होती हैं? वह अहंमति सापेक्ष (मैं-बुद्धि के अधीन) होती है। इन तीनों की तभी तक प्रतीति होती है जब तक अहंमति रहती है। इसलिये अहंमति से शून्य (रहित) स्थिति समस्त निष्ठाओं से उत्तम निष्ठा है।

---

*वस्तु के स्वरूप में बिना किसी परिवर्तन के जो उसकी अन्य रूप से प्रतीति होती है वह विवर्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवतरणिका—जब कि अहं-बुद्धि के न होने पर जगत्, जीव और ईश्वर के पृथक्-भाव की उपलब्धि नहीं होती तब 'यह जगत् सत्य है अथवा असत्य' इस आशंका का निवारण करने के लिये प्रवृत्त नाना शास्त्रीय सिद्धान्तवादों का परमार्थ-तत्व के ग्रहण में साक्षात् उपयोगित्व नहीं है।

सत्यं मृषा वा चिदिदं जडं वा,
दुःखं सुखं वेति मुधा विवादः।
अदृष्टलोका निरहंप्रतीति-
निष्ठाऽविकल्पा परमाखिलेष्टा ॥ 5 ॥

भावार्थ—यह जगत् सत्य है या (केवल) मिथ्या, वह चित् है या जड़ (केवल मन की) कल्पना है या नहीं, वह सुख-दुख उपभोग के लिये है या नहीं, ऐसे विवादों से क्या लाभ है? जगत का परित्याग करना और अहंभाव को नष्ट कर अद्वैत वैसे ही द्वैत से भी परे की स्थिति प्राप्त कर आत्मसाक्षात्कार करना यह सबको मान्य है।

अहं-प्रतीति के न रहने पर जिस निष्ठा में यह लोक भिन्नतया नहीं रह जाता वही निष्ठा, 'जो इन सब विकल्पों (सुख है या दुख आदि) से शून्य है, सर्वश्रेष्ठ और निखिल द्वैत आदि मतानुसारियों को सम्मत (मान्य) है, अर्थात् अत्यन्त विरुद्ध सिद्धान्तवाले, द्वैत-अद्वैतवादों को स्वीकार करनेवाले, सभी आस्तिक, भक्ति, ज्ञान, योग आदि मार्गों में से किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक मार्ग को अपने परम पुरुषार्थ की सिद्धि का आवश्यक साधन स्वीकार करके जब अपने मत के अनुसार उपदिष्ट निष्ठा करते हैं तब उसमें भी विषय-चिन्तन और अहं-भाव को अवकाश नहीं रहता है। समस्त निष्ठाओं में जिससे लक्ष्य एकाग्र बुद्धि से ही ध्येय हो सके ऐसा उपदेश किया जाता है। इसलिये सत्य-असत्य, चित्-अचित्, सुख-असुख, एक-अनेक आदि विकल्पों से विवर्जित अध्यात्म-निष्ठा सभी को सम्मत है। यहाँ पर सत्य अथवा मिथ्या इस प्रकार के तीन विकल्पों को उठाकर यह बतलाया कि परमार्थ-तत्व सत् ही है-मृषा नहीं, चित् ही है जड़ नहीं, आनन्द ही है दुख नहीं। यह सच्चिदानन्द स्वरूप निष्ठा के द्वारा अनुभव से ही जाना जाता है, विवाद का विषय नहीं।

अवतरणिका—अब जगत्, जीव और ईश्वर का अखण्ड आत्मा में ऐक्य और द्रष्टा, दृश्य के भेद का अभाव होने से उस अखण्ड आत्मा की अनन्त दृष्टि स्वरूपता का उपपादन (सयुक्तिक कथन) करते है।

सरुपबुद्धिर्जगदीश्वरे च
सरूपधीरात्मनि यावदस्ति।
अरूप आत्मा यदि कः प्रपश्येत्,
सा दृष्टिरेकाऽनवधिर्हि पूर्णा ॥ 6 ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावार्थ—जब तक स्थूल, सूक्ष्म आदि किसी भी शरीर से अवच्छिन्न* द्रष्टा में (आत्मा में) सरूप बुद्धि है (मैं अमुक रूपवाला हूँ), तब तक जगत् और ईश्वर के विषय में भी सरूप बुद्धि रहती है। यहाँ पर रूप शब्द केवल चक्षुग्राह्य स्थूलदेह-परत्व नहीं किन्तु अन्नमय, प्राणमय आदि कोशों में से अन्यतम-परत्व है। इस प्रकार जगत्, जीव व ईश्वर का स्वरूपत्व-अरूपत्व स्वीकार करके उनका अरूपत्व होने पर अखण्ड आत्मा से ऐक्य उत्तरार्ध के द्वारा कहते हैं। यदि आत्मा रूप-वर्जित है, तब कौन देखेगा? अर्थात् जब अखण्ड आत्मा से स्व के अभेद की अनुभूति हो जाती है, तब अपने से अन्य रूप से दृश्य अथवा द्रष्टव्य कुछ भी नहीं रह जाता। दृग्-दृश्य-व्यवहार का अवकाश न होने से उस अवस्था में जगत्, जीव तथा ईश्वर की प्रतीति ही नहीं होती। वही चित्-स्वरूपिणी दृष्टि एक अद्वितीय अखण्ड आनन्द पूर्ण वास्तविक परमार्थ-तत्व है।

यदि स्वयं (आत्मा) सरूप देह हो, तो जगत और ईश्वर भी सरूप-साकार दीख सकते हैं। वास्तव में स्वयं-सरूप-साकार न हो, तो जगत् तथा ईश्वर के रूप को कौन व कैसे देख सकेगा? देखनेवाले नेत्रों को स्वमात्र के विरुद्ध दृश्य

---

*शरीर के साथ आत्मा की अभेद रूप से प्रतीति होने पर जो उसका सीमित ज्ञान है वही आत्मा की अवच्छिन्नता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दीख सकता है? अर्थात् नेत्र के स्वभावानुसार दृश्य बनता है। देहात्म-भाववालों को—अज्ञानी को—जगत् अपने से भिन्न और अनेक रूपों से भरा दीखेगा। इतना ही नहीं, उनका यह माना भी स्वाभाविक ही होगा कि ईश्वर भी साकार है व वे उनके रूप को देखना चाहते हैं। इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता है कि वे रूप सच्चे हैं। सच्चा नेत्र तो आत्मा ही है; वह असंख्य ज्ञान-चक्षु अद्वितीय एक-मात्र विराजमान है। अर्थात् स्वात्मानुभव में रूप नहीं है।

यहाँ पर पूर्वार्ध में जगत् और ईश्वर का सरूपत्व जीवात्मा के सरूपत्व के अधीन है ऐसा कहकर उत्तरार्ध से उस आत्मा के अरूपत्व की सिद्धि होने पर अनन्त अखण्ड दृष्टि-रूप नित्य-सिद्ध आत्मा ही ग्राह्य होती है। इस प्रतिपादन से दृष्टा-विषयी का सरूपत्व जगत्-ईश के सरूपत्व का ग्राहक है यह कहा गया है।

जब तक देह पंच कोश का बना है, अर्थात् इन पाँचों का समावेश एक ही शब्द 'देह' में हो जाता है। देह जगत् से भिन्न अस्तित्व रख सकता है? तब कहीं देह के बिना जगत् को देखा हो ऐसे मनुष्य है सही?

अवतरणिका—दृष्टा आत्मा के पंच कोशात्मक शरीर के तादात्म्यापन्न (अभेद-प्रतीतियुक्त) होने पर ही भुवन ज्ञान होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यत्पञ्चकोशात्मकमस्ति देहं,
तदन्तरा किं भुवनं चकास्ति ?
देहं विना पंचविधं तदेतत्,
पश्यन्ति के वा भुवनं ? भणन्तु ॥ 7 ॥

भावार्थ—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय यह पाँच कोश ही जिसके रूप हैं उस देह के बिना क्या जगत् का अनुभव होता है ? इस पंच विध देह के बिना क्या कोई भुवन को देख सकता है ? अर्थात् शरीर के बिना कोई भी भुवन को ग्रहण नहीं कर सकता, यह सर्वविदित है। भुवन समष्टि है शरीर व्यष्टि है। व्यष्टि समष्टि के अधीन एवं समष्टि का स्वरूपभूत ही है। जब तक विषयी शरीरात्माभिमान* से युक्त नहीं हो जाता तब तक उसमें †विषयित्व भी सिद्ध नहीं होता। जब शरीर बन्धन के बिना विषयित्व ही सिद्ध नहीं होता तब वह भुवनाकार विषय किसका गोचर विषय होगा ?

---

*शरीर ही मैं हूँ ऐसा अभिमान।

†ज्ञेय—जब हमें कोई भी ज्ञान होता है तब उस अवस्था में जिसको हम जानते हैं। ज्ञान—जिससे हम जानते हैं, ज्ञाता—जो जानता है। इन तीनों का रहना अनिवार्य है। इनमें से किसी एक के न रहने पर ज्ञान नहीं रहा। जाननेवाले के न रहने पर तो सर्वथा नहीं। जाननेवाले (ज्ञाता) को विषयी कहते हैं उसीका भाव है विषयित्व।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवतरणिका—मानव-व्यक्ति दृष्टा विषयी के मनोमय होने से उसका विषयभूत भुवन (जगत्) भी मनोमय होता है। इस वृत्ति के विषय तादात्म्य का प्रतिपादन करने के लिये भुवन के मनोमयत्व का वर्णन किया है।

शब्दादिरूपं भुवनं समस्तं,
शब्दादिसत्तेन्द्रियवृत्तिभास्या।
सत्तेन्द्रियाणां मनसो वशे स्या-
न्मनोमयं तद्भुवनं वदामः ॥ 8 ॥

भावार्थ—यह जगत् तन्मात्राओं के पंचतत्वों के रूप के सिवाय और कुछ नहीं है। ये पांच तत्व पंचेन्द्रियों के विषय बनते हैं। पंचेन्द्रियों द्वारा केवल मन जगत को देखता है। मन से भिन्न इसीलिये कहते हैं कि यह जगत् मनोमय ही है और कुछ नहीं।

यह समस्त भुवन शब्दादि रूप ही (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक) है। इन शब्दादिकों की सत्ता इंद्रिय-वृत्तियों के द्वारा भास्य (प्रकाश्य) होने से इन्द्रियाधीन है। इन्द्रियों की सत्ता मन के अधीन है। इसलिये यह समस्त भुवन मनोमय ही है। यहाँ सूक्ष्म मन का स्थूल रूप ही यह जगत् है, यह प्रतिपादित किया गया। अवस्था-भेद से सिद्ध होनेवाले स्थूल जगत् और सूक्ष्म मन का तादात्म्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्बन्ध (अभेद सम्बन्ध) ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि एक ही कारण-भूत वस्तु से इन दोनों के जन्मादि की सिद्धि होती है, यह बात आगे के श्लोक में कहेंगे। व्यस्टिगत और समस्टिगत मनस्तत्व को उद्दिष्ट करके ही भूवन को मनोमय कहा गया है। व्यष्टिदेवदत्त के मन नष्ट होने पर उसके ही मानस-भूवन का नाश होता है। यज्ञदत्त अथवा उसके समष्टिभूत ईश्वर के भुवन का नहीं।

अवतरणिका—लोक का अहं-बुद्धि के साथ अविनाभाव होने पर भी अहं-बुद्धि की ही प्रकाशकता कही जा रही है।

> धिया सहोदेति धियाऽस्तमेति,
> लोकस्ततो धीप्रविभास्य एषः।
> धीलोकजन्मक्षयधामपूर्णं,
> सद्वस्तु जन्मक्षयशून्यमेकम् ॥ 9 ॥

यह जगत समस्त मनोवृत्तियों की मूल-वृत्ति अहं-बुद्धि ज्ञान के साथ ही उदय होता है और उसीके साथ साथ अस्त भी हो जाता है। फिर भी ज्ञान के द्वारा ही जगत् भासमान होता है। जगत् और उसका ज्ञान जिस पूर्णता से उत्पन्न होते हैं तथा जिसमें लय हो जाते हैं और जो (स्वयं) अस्तोदय रहित (शुद्ध चैतन्य रूप में) प्रकाशते हैं, वही पूर्ण सत्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार "यत् पंचकोशात्मक", "शब्दादि रूपं", "धियासहोदेति" इन तीन श्लोकों से व्यष्टि समष्टि के अभेद का तत्वतः निश्चय करके व्यष्टि जीव का पंचकोशात्मक शरीर ही जगत् है, समष्टि ईश का पंचकोशात्मक जगत् ही शरीर है। यह समझाकर पंचकोशों में अन्यतम मनोमय स्वरूप का विचार करके जगत् के मनोमयत्व के प्रतिपादन द्वारा मनोमूलक अहं-धी द्वारा प्रकाश्य लोक का अहं बुद्धि में उपसंहार, अहं-बुद्धि का सद्बुद्धि में उपसंहार, इस प्रतिपादन के द्वारा सद्वस्तु ही अहं-बुद्धि रूप द्वारा मनोमयात्मक भुवनाकारता को प्राप्त हो गयी है, यह स्पष्ट किया गया है।

अवतरणिका—अत्र उक्त लक्षण सद्वस्तु में तादात्म्य-निष्ठा ही सद्दर्शन है, यह कहने जा रहे हैं।

> **भवन्तु सद्दर्शनसाधनानि,**
> **परस्य नामाकृतिभिः सपर्याः।**
> **सद्वस्तुनि प्राप्ततदात्मभावा,**
> **निष्ठैव सद्दर्शनमित्यवेहि ॥ 10 ॥**

भावार्थ –मनुष्य चाहे जिस नाम व रूप से या नाम व रूप-रहित सर्वांतर्यामी चैतन्य की उपासना करे, वह उपासना उस परिपूर्ण सद्वस्तु की प्राप्ति में सहाय रूप होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परंतु उस सद्वस्तु की सत्यता ही सत्य है, यह जानकर उसमें तन्मय हो जाना ही सद्दर्शन है।

अनन्त, शिव, विष्णु, ब्रह्म, इन्द्र आदि नाम एवं आकृतियों के द्वारा अथवा हिरण्यमय आदि मूर्तियों या पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, यजमान रूप आठ मूर्तियों के द्वारा ईश्वर की जो पूजा की जाती है वह सर्वेश्वर के साक्षात्कार की सहकारिणी है। जीव-कल्पित वृषवाहन, गरुडवाहन आदि मूर्तियों के द्वारा तथा ईश कल्पित अग्नि, वायु आदि मूर्तियों के द्वारा सर्वाधिष्ठातृ चैतन्य सर्वेश्वर की उपासना फल-प्रद है। फल उपासक की श्रद्धा के अनुरूप उपास्यमान ईश्वर के अनुग्रह के अधीन है। श्रद्धामय उपासक को उपास्य मूर्ति से निरपेक्ष मूर्ति की अभिमानिनी देवता फल का विधान करती है। इसलिए नाम-संकीर्तन, मूर्ति-पूजन आदि ब्रह्मात्मसाक्षात्कार के उपयोगी हैं; किन्तु साक्षात्कार तो निष्ठा ही है। समस्त उपास्यमान मूर्तियों के आश्रयभूत सद्भावाख्य (सत्ता ही जिसका स्वरूप है) ब्रह्म में 'वहीं-मैं आत्मा हूँ' ऐसा भाव जिसमें है, वह निष्ठा ही सत्य साक्षात्कार है।

अवतरणिका—विचारशील जिज्ञासु को अन्वेषण रूप साधन का उपदेश देते है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वन्द्वानि सर्वाण्यखिलास्त्रिपुट्यः,
किंचित्समाश्रित्य विभान्ति वस्तु ।
तन्मार्गणे स्याद्गलितं समस्तं,
न पश्यतां सच्चलनं कदापि ॥ 11 ॥

भावार्थ—द्वन्द्व (ज्ञान-अज्ञान, आत्मा-अनात्मा, जड़-चेतन, द्रष्टा-दृश्य) और त्रिपुटी (ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय) ये सब सदा एक (अहम् की एकमात्र भावना) अहंकार पर अवलंबित हैं। इस अहंकार को, अपने हृदय के अन्दर घुसकर ठीक-ठीक पहचानकर दूर कर सकें तो द्वन्द्व व त्रिपुटी के गल जाने में देर नहीं लगती। इस प्रकार अहंकार को जीतनेवाले ही सद्वस्तु के सच्चे दर्शक हैं। वे इन बातों से घबराते नहीं हैं।

आत्मा अनात्मा, जड़ चेतन, द्रष्टा दृश्य, विषयी विषय, आदि एक दूसरे के आश्रित द्वन्द्व तथा ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय आदि अखिल त्रिपुटियाँ किसी आश्रयभूत मूलस्वरूप का आलम्बन करके विभासित होती हैं। इस आश्रयभूत वस्तु का अन्वेषण करने पर समस्त द्वन्द्व और त्रिपुटियाँ गलित हो जाती हैं। अन्वेषण के द्वारा द्वन्द्व और त्रिपुटियों का अदर्शन हो जाने पर जो सत्य परिशिष्ट रहता है जिनको साक्षात्कार हो चुका उनकी निष्ठा अचल होती है। दूसरे स्थान पर श्रीमहर्षि ने कहा है कि स्वात्मरूप ब्रह्म को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जानने के लिये जब वृत्ति प्रवृत्त होती है तब स्वात्माकार होकर अपनी पृथकता छोड़ देती है। इस प्रकार समस्त द्वंद्व और त्रिपुटियों के आश्रय *सापेक्षत्व के उपपादन के द्वारा मूलाश्रय के अन्वेषण से अचलत्व की प्राप्ति कही गयी है।

अवतरणिका—अब बहुत प्रकार से तत्वानुसंधान के साधन कहे जाते हैं।

विद्या कथं भाति न चेदविद्या,
विद्यां विना किं प्रविभात्यविद्या।
द्वयं च कस्येति विचार्य मूल-
स्वरूपनिष्ठा परमार्थ-विद्या ॥ 12 ॥

भावार्थ—लोकानुभव में अविद्या से बिलकुल पृथक विद्या का अस्तित्व नहीं, वैसे ही विद्या के विना शुद्ध अविद्या भी अन्यत्र नहीं रहती। 'लौकिक विषयसंबंधी ये विद्या तथा अविद्या किसके लिये हैं?' इस विचारणा से जो ज्ञान आत्मा का परिचय कराता है और जो ज्ञान व अज्ञान के मूल को खोज निकालता है सबके मूल अहम्-रूपी अपने को पहचानता है वही सच्चा ज्ञान है।

---

*द्वन्द्व और त्रिपुटी का भान अपने आप में नहीं हो सकता। द्वन्द्व और त्रिपुटियों को अपने भान के लिए किसी चैतन्य आश्रय की अपेक्षा है। वह मूलाश्रय अहम् है। अहम् के आश्रित ही सबकी स्थिति का होना आश्राय-सापेक्षत्व है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि अविद्या न हो तो विद्या का भान कैसे होगा? इसी प्रकार विद्या के बिना अविद्या का भान कैसे होगा। विद्या और अविद्या एक दूसरे के आश्रित द्वन्द्व हैं। ये दोनों किसके आश्रित हैं? विद्यावान् अविद्यावान् कौन हैं? तत्व विचार के द्वारा पर्यालोचन करके इन दोनों के आश्रय मूल-स्वरूप में जो निष्ठा है वहीं परमार्थ विद्या है, अनुभवात्मक ज्ञान ही*परमार्थ विद्या है।

अवतरणिका—इस प्रकार विद्या-अविद्यात्मक मूल के अन्वेषण का उपदेश करके अब उससे भी सूक्ष्मतर ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटी के मूल आश्रय के विज्ञान द्वारा ज्ञाता का सत्-स्वरूप से अभेदानुभव बतलाते हैं।

बोद्धारमात्मनामजानतो यो,
बोधः स किं स्यात्पारमार्थबोधः।
बोधस्य बोध्यस्य च संश्रयं स्वं,
विजानतस्तद् द्वितयं विनश्येत् ॥ 13 ॥

भावार्थ—बाहर की वस्तुओं को जानने पर अपने को ज्ञाता, आत्मा को न पहचान सकें, उसे अज्ञान ही कह

---

*यहाँ परमार्थ विद्या के दो अर्थ हो सकते हैं :—एक परम (श्रेष्ठ) अर्थ (प्रयोजन) जिसका वह परमार्थ-विद्या (अनुभूति स्वरूपिणी); दूसरा परम (सर्वोत्कृष्ट) जो अर्थ (वाच्य) है उस परमार्थ सत्य को जाननेवाली विद्या अर्थात् अनुभवात्मक ज्ञान परमार्थ-विद्या है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकते हैं, ज्ञान नहीं। ज्ञान और उसके ज्ञेय पदार्थों के मूलरूप आत्मा को जब जानने में आता है तब ज्ञान और ज्ञेय-पदार्थ अदृश्य हो जाते हैं।

आत्मा को न जाननेवाले ज्ञाता पुरुष का जो ज्ञान है क्या वह वास्तविक ज्ञान हो सकता है? ज्ञान और ज्ञेय के विषयीभूत आश्रय स्वात्मा को जाननेवाले पुरुष के लिये ज्ञान, ज्ञेय दोनों ही विनष्ट हो जाते हैं।

यहाँ विषयी, विषय और वृत्ति यही ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान रूप त्रिपुटी कहलाती है। स्वरूप का बोध होने पर ज्ञाता विषयी का सत्-स्वरूप से अभेदानुभव सिद्ध हो जाता है। सत्-स्वरूप का विषयी से अभेद हो जाने के अनन्तर उसके आश्रित वृत्ति और विषयी का भी स्वरूप से अभेद हो जाता है।

रमण-गीता में भगवान् रमण महर्षि ने कहा है कि जिसके स्वरूप से विषयी अभिन्न है, व्यापार के विषयवृत्ति और विषय भी उसके स्वरूप से अभिन्न हैं।

जिस अभिमानी के स्वरूप से विषयी विभिन्न है, व्यापार के विषय-वृत्ति और विषय उसके स्वरूप से भिन्न प्रतीत होते हैं।

अवतरणिका—विषयी का ज्ञान मूलस्वरूप का प्रापक है यह कहा गया। अब वह स्वरूप-ज्ञान विषयी के व्यवहार सिद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञान अज्ञान में से नहीं, किन्तु दोनों से विलक्षण चिद्रूप है। इसी को पुनः दृढ़ करते हैं।

निद्रा न विद्या ग्रहणं न विद्या,
गृह्णाति किंचिन्न यथार्थबोधे।
निद्रापदार्थग्रहणेतरा स्या-
च्चिदेव विद्या विलसन्त्यशून्या ॥ 14 ॥

भावार्थ—निद्रा विद्या नही, पदार्थों का ज्ञान-रूप ग्रहण भी विद्या नहीं है। क्योंकि यथार्थ-बोध में कुछ भी ग्रहण नहीं होता। जो निद्रा और पदार्थ-ग्रहण से विलक्षणपूर्ण सर्वावभासक चित् है वही विद्या है। निद्रा (अज्ञान) विद्या नहीं है। स्वरूप का अनुभव होने पर आत्मा से अन्य कुछ भी नहीं देखता। इस प्रतिपादन से पदार्थों का अग्रहण महती विस्मृति ही आत्म-ज्ञान है ऐसा कोई मूढ़ न समझ ले इसलिये बतलाया है कि अज्ञान ही आत्मज्ञान नहीं है। पदार्थों का ग्रहण भी विद्या नहीं है। विषयी के ज्ञान के विना विषय का ज्ञान भी परमार्थ ज्ञान नहीं। अनुभवात्मक यथार्थ बोध होने पर आत्मस्वरूप से अन्यत्वेन (विभिन्न रूप से) कुछ भी ग्रहण नहीं होता, निद्रा और पदार्थ के ग्रहण से विलक्षण आश्रय--भूत चैतन्य ही सद्-विद्या (यथार्थ विद्या) है। द्वन्द्व विलक्षण कहने से कोई शून्य न समझ ले इसीलिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अशून्या विशेषण दिया अर्थात् वह चित् पूर्ण है। वह जड़ के समान तटस्थ नहीं, इसको दृढ़ करने के लिये 'विलसन्ति' यह विशेषण है। अर्थात् वह स्वयं भासमान होता हुआ ज्ञान अज्ञानात्मक द्वन्द्व को भी प्रकाशित करता है, यह समझना चाहिये।

अवतरणिका—सत्-ज्ञान एक ही है; नाना रूप ज्ञानों का पृथक्-भाव नहीं है इसको स्वर्ण-भूषण-दृष्टान्त के द्वारा समझा रहे हैं।

सत्यश्चिदात्मा विविधाकृतिश्चित्,
सिद्ध्येत्पृथक्सत्यचितो न भिन्ना।
भूषाविकाराः किमु सन्ति सत्यं,
विना सुवर्णं पृथगत्र लोके॥ 15॥

भावार्थ—ज्ञान स्वरूप सत् आत्मा एक ही है, यद्यपि पदार्थ-ज्ञान नाना रूप से प्रतीत होते है; पर वे एक सत्-ज्ञान-स्वरूप से पृथक् सिद्ध नहीं हो सकते। नाना-रूपात्मक निर्मूल ज्ञान की सत्-ज्ञान से पृथक् सत्ता नहीं है। इसलिये वैसे ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। लोक में सोने के विकारभूत भूषणादि नाम और आकार के भेद होने पर भी क्या सोने से पृथक् हो सकते हैं? इसी प्रकार नाना-ज्ञान भी चित्-स्वरूपज्ञान से भिन्न नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवतरणिका— अस्मत्-प्रत्ययगोचर (मैं वृत्ति का विषय) विषयी के मूल का अन्वेषणीय रूप से प्रतिपादन करने के लिये यह श्लोक कहा जा रहा है।

तद्युष्मदोरस्मदि संप्रतिष्ठा,
तस्मिन्विनष्टेऽस्मदि मूलबोधात्।
तद्युष्मदस्मन्मतिवर्जितैका,
स्थितिर्ज्वलन्ती सहजाऽत्मनः स्यात् ॥ 16 ॥

भावार्थ—तत् (जिसकी 'वह' रूप से प्रतीति होती है) युष्मत् (जिसकी 'यह' रूप से प्रतीति होती है) दोनों की अस्मत् (मैं के रूप में जिसकी पृतीति होती है) में संस्थिति है अर्थात् विषय के ज्ञान का आधार विषयी का ज्ञान है। वह और यह विषय हैं। मैं विषयी है। जव अहम् (मैं) के मूलाश्रय का वोध हो जाता है, तव (तत्) वह (युष्मत्) यह औंर (अस्मत्) मैं का पता ही नहीं चलता। उस समय वह, यह और मैं के भेद से रहित आत्मा को प्रकाशस्वरूप सहज स्थिति सिद्ध हो जातीं है। जब वृत्ति रूप मैं का भान होंता है तभी वह, यह का भान हो सकता है। और वृत्ति रूप मैं (अहम्) वास्तविक मैं (अहम्) नहीं है। यथार्थ मैं तो उसका आश्रय है। आश्रय-स्वरूप मैं का वोध होने पर मैं वृत्ति और उसके आश्रित यह-वह (ये भी वृत्तिरूप ही हैं। क्योंकि भान के अतिरिक्त विषय का कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वरूप नहीं है) भी समाप्त हो जाते हैं। यही आत्मा की सहज स्थिति है।

अवतरणिका—देशकालातीत सत् - तत्व देशात्मना कालात्मना अवस्थित है। अतः देशकाल के तत्व-विचार के द्वारा भी उसका साक्षात्कार युक्त है यह प्रतिपादन किया जा रहा है।

> भूतं भविष्यच्च भवत्स्वकाले,
> तद्वर्तमानस्य विहाय तत्वम्।
> हास्या न किं स्याद्गतभाविचर्चा,
> विनैकसंस्थां गणनेव लोके ॥ 17 ॥

भावार्थ—भूत और भविष्यत् दोनों ही अपने समय में वर्तमान ही हैं। भूत-वृत्तांत अपने प्रचलन के समय में वर्तमान ही था। इसी प्रकार भविष्यत्-वृत्तांत भी अपने प्रचलन के समय में वर्तमान ही होगा। इसलिये भूत-भविष्यत् के तत्व का सूक्ष्मतर विचार करने पर दोनों का ही स्वरूप वर्तमान है, यह बात विदित होती है। इस कारण वर्तमान के तत्व को छोड़कर भूत-भविष्यत् की चर्चा उसी प्रकार हास्यास्पद है जैसे व्यवहार में एक की गणना के बिना दो, तीन आदि ऊपर की संख्याओं की गणना उपहासनीय होती है। क्योंकि एक और एक दो, और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक और दो तीन। इस प्रकार दो, तीन आदि संख्या कुछ नहीं। इकाइयों का ही अधिकाधिक योग है। जिस प्रकार ऐक संख्या ही क्रमशः ऊपर ऊपर पूरण करने से दो, तीन आदि संख्याओं का संकलन हो जाता है उसी प्रकार वर्तमान भी भूत भविष्य के रूप में है। इससे यह सिद्ध हुआ कि काल वर्तमान-मय है। अतीत और अनागत वर्तमान स्वरूप ही हैं यह निश्चय करके अतीत-वृत्ति और अनागत-वृत्ति दोनों का त्याग करने पर वर्तमान अपने यथार्थ रूप में शेष रह जाता है। पूर्वक्षण की स्मृति और उत्तर-क्षण की कल्पना को छोड़कर दोनों के मध्य की वृत्ति को केन्द्रित करने पर वृत्ति की विषयाकारता समाप्त हो जाती है। रह जाता है केवल निर्विकल्प निर्विशेष ब्रह्म। ब्रह्म ही वर्तमान का यथार्थ स्वरूप है। वर्तमान ब्रह्मरूपता का अनुभव होते ही अतीत अनागत भी ब्रह्मरूप हो जाते हैं। फिर मणिगण सूत्र के समान चलते हुए काल का *वर्तमान ब्रह्म ही है यह बात समझ में आ जाती है। इस प्रकार ब्रह्म ही कालात्मनावस्थित है यह सिद्ध हुआ।

अवतरणिका—शरीर ही मैं हूँ इस देहात्म-बुद्धि से ही हम देश-काल से †अवच्छिन्न होते हैं। देश-कालावच्छिन्न

*काल के रूप में जो स्वयं है।

†परिसीमित।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अस्मत्-प्रत्यय (मैं प्रतीति) का आश्रय अखण्ड आत्मस्वरूप ही हमारा परमार्थ सत्य है। यह जान लेने पर हमारा देश-कालावस्थितत्व कैसे आता है, यह स्पष्ट हो जाता है।

क्व भाति दिक्कालकथा विनास्मान्,
दिक्काललीलेह वपुर्वयं चेत्।
न क्वापि भामो न कदापि भामो,
वयं तु सर्वत्र सदा च भामः ॥ 18 ॥

भावार्थ—द्रष्टा विषयी के बिना देश-काल की प्रतीति कहाँ होती है? द्रष्टा विषय *चिद्रूप है। जब चित् मनोमयरूप से †विजृंभित होता है तब देशात्मना कालात्मना अवस्थान सिद्ध होता है।

यद्यपि देश व काल चित्-शक्ति का विकार व आकार विशेष है तथापि चित्-स्वरूप से देश और काल का पृथक् भाव नहीं है। क्योंकि चित्-रूप और उसकी शक्ति का दीप और प्रभा के समान तादात्म्य सम्बन्ध है। इसलिये चित्-स्वरूप आत्मा के मनोमय होने पर देहात्म-बुद्धि से

---

*निर्विशेष ज्ञानमात्र को चित् कहते हैं। विषयों से अनारक्त (अर्थात् विषयाकार होकर विषय के रंग में जो नहीं रंगा है) ज्ञान ही निर्विशेष ज्ञान है।

†उपाधि के धर्मों से संयुक्त होकर प्रतीत होने लगना विजृंभित होना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देश-कालावच्छिन्नत्व की प्रतीति होने लगती है। देश-काल विजृंभित मनोमय का आश्रयभूत मूल-स्वरूप ही हमारा सत्य स्वरूप है। इसलिये हमारे देश-काल की कथा ही नहीं, यह भाषित उक्ति युक्त है। इसीको दूसरे पाद से स्पष्ट कर रहे हैं। इस लोक में यदि हम शरीर ही हों तभी चित्-शक्ति की विभूति देश-काल का लीला-विलास हो सकता है। वास्तव में शरीर ही हमारा स्वरूप नहीं है। इसलिये न तो हमारा मूल-स्वरूप देशावच्छिन्न है और न कालावच्छिन्न। हमारी सत्ता सदा सर्वत्र है। देश-काल से अवच्छिन्न होने पर मनोमयत्व और देश-काल से अवच्छिन्न होकर मनोमूल-स्वरूपत्व इस प्रकार चिदात्मा और उसके विलास के प्रतिपादन से एक ही सत् का सकल (सगुण) और निष्कल (निर्गुण) प्रकार से ग्रहण स्मारित होता है।

अवतरणिका—अज्ञ-विज्ञ के अनुभव-भेद को स्पष्ट करते हैं।

देहात्मभावे ज्ञजडौ समाना
वेकस्य देहे हृदि दीप्त आत्मा।
आक्रम्य देहं च जगच्च पूर्णः,
परस्य मेयं तनुमात्रमात्मा ॥ 19 ॥

भावार्थ—देहात्म-भाव में विद्वान और अविद्वान दोनों ही समान हैं। अर्थात् दोनों ही देह को आत्मस्वरूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समझते हैं। परन्तु विद्वान् का शरीर के भीतर के मूल-स्थान में आत्मा अहम्-अहम् रूप से स्फुरित होता हुआ देह और जगत् को व्याप्त करके पूर्ण अर्थात् सर्वात्मक होता है और जो दूसरा अविद्वान् है वह केवल मन और इन्द्रियों के द्वारा मापे जानेवाले शरीर को ही आत्मा मानता है। विद्वान देह के साथ समस्त विश्व को आत्मा समझता है और अविद्वान् केवल देह को ही आत्मा समझता है। विद्वान् का देह में आत्मभाव उसको सीमित नहीं करता किन्तु अविद्वान् देह को विश्व से पृथक् करके उसमें आत्म-भाव करता है। इसलिए वह इस साढे तीन हाथ के देह में ही सीमित हो जाता है।

अवतरणिका—इस प्रकार व्यष्टि शरीर को उद्दिष्ट करके अज्ञ-विज्ञ के देहात्म-भाव में तुल्यता और विशेष प्रपंचित हुए। अब समष्टि-शरीर-जगत् को अधिकृत करके उन दोनों का तुल्यत्व और भेद कहा जायगा।

अज्ञस्य विज्ञस्य च विश्वमस्ति,
पूर्वस्य दृश्यं जगदेव सत्यम्।
परस्य दृश्याश्रयभूतमेकं,
सत्यं प्रपूर्णं प्रविभात्यरूपम्॥ 20॥

भावार्थ—अज्ञ और विज्ञ दोनों ही विश्व को अस्ति रूप से ग्रहण करते हैं। मूल को न जाननेवाले अज्ञ को

5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्द्रियग्राह्य नाम-रूपात्म जगत् ही सत्य रूप से प्रतीत होता है। जगत् के मूल स्वरूप को वह ग्रहण नहीं करता. यह तात्पर्य है। पक्वात्मा(पवित्रान्तःकरण)विज्ञ नामरूपात्मक जगत् का आश्रयभूत आधार एक अद्वितीय अभिन्न सर्वव्यापक रूपविवर्जित सत् को स्वयंप्रकाश रूप से अनुभव करता है। विश्व में अनुस्यूत (कारण रूप से व्यापक) अरूप ब्रह्म ही विज्ञ को भासमान होता है। यही विज्ञ को भी विश्व है। इस वचन का भावार्थ समझना चाहिए। विद्वान् का ज्ञान समूल है। अविद्वान् का ज्ञान निर्मूल, स्थूल, पाक्षिक और अपूर्ण है। यही दोनों का तुल्यत्व और भेद है। अज्ञ जगत् को जगत् रूप में सत्य समझता है और विज्ञ जगत् को ब्रह्म रूप में सत्य समझता है। जगत् को दोनों ही सत्य समझते हैं पर दोनों की समझ में बहुत अन्तर है।

अवतरणिका—अब दैववाद और पुरुषकार-वाद को अनवस्थित देखकर दोनों की एकमूलता का कथन करके उसके विद्वान का दैववाद एवं पुरुषकारवाद दोनों से ही अबाधितत्व का वर्णन किया जा रहा है।

विधेः प्रयत्नस्य च कोऽपि वाद-
स्तयोर्द्वयोर्मूलमजानतां स्यात्।
विधेः प्रयत्नस्य च मूलवस्तु,
संजानतां नैव विधिर्न यत्नः ॥ 21 ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधि (जन्मान्तरीय कर्मों का परिपाक रूप) प्रारब्ध (अदृष्ट आदि पद-वाच्य) दैव का एवं प्रयत्न (पुरुषकार) का जो अव्यवस्थित विवाद है वह उन दोनों के मूल स्थान को न जाननेवाले पंडितं-मन्यों का ही है। विधि और प्रयत्न के कारण मूल-स्वरूप को सम्यक् रूप से जाननेवाले पुरुष को विधि और प्रयत्न दोनों ही बाधक नहीं होते।

अवतरणिका—आत्म-ज्ञान निष्ठा-स्वरूप है यही कहा गया है।

यदीशितुर्वीक्षणमीक्षितारं,
अवीक्ष्य तन्मानसिकेक्षणं स्यात्।
न द्रष्टुरन्यः परमो हि तस्य
वीक्षा स्वमूले प्रविलीय निष्ठा ॥ 22 ॥

देखनेवाले को न देखकर जो ईश्वर का दर्शन है वह मनोमय दर्शन ही है, स्व-स्वरूप का साक्षात्कार नहीं। आत्मा के मनोमय होने पर जो ईश-दर्शन है वह मनोमय ही है। क्योंकि द्रष्टा से भिन्न ईश्वर नहीं है। जीव और ईश का चित्-स्वरूप से अभेद होने के कारण जीव-रूप द्रष्टा के सुबोध के बिना ईश का यथार्थ-दर्शन नहीं होता। मनोमय आत्मा द्रष्टा के मूलाश्रय में स्वयं को विलीन करने की जो निष्ठा है वह सहज स्थिति ही यथार्थ दर्शन है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मान्वेषण के द्वारा सीमित अहम् के विनष्ट हो जाने पर जो फलात्मक स्थिति का अनुभव होता है वही अनुभव पूर्ण शरणागति और वह आत्मसमर्पण के द्वारा होता है। इसलिये आत्मोपलब्धि के निष्ठा और प्रपत्ति दो मार्ग महर्षि ने बतलाये हैं।

अवतरणिका—आत्म-दर्शन का सूक्ष्म उपाय नीचे वर्णन करते हैं।

आत्मानमीक्षेत परं प्रपश्ये-
दित्यागमोक्तेः सुलभो न भावः।
नात्मैव दृश्यो यदि का कथेशे,
स्वयं तदन्नीभवनं तदीक्षा ॥ 23 ॥

भावार्थ—'आत्मदर्शन' और 'ईश्वर दर्शन' के वर्णन करनेवाले भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से यदि सत्य का शोधन किया जाय तो निष्कर्ष यही है कि दोनों दर्शन दर्शन ही नहीं हैं। हम आत्मा के दर्शन कैसे कर सकते हैं? और आत्मा एकमेव अद्वितीय होने के कारण उसका दर्शन असंभव हो तो फिर ईश्वर के दर्शन किस प्रकार मिल सकते हैं? सत्य यह है कि व्यक्ति को समष्टि में समा देना चाहिए।

आत्मा को देखे, ईश्वर का साक्षात्कार करे, इस आगमोक्ति (अनुभवी आप्तों के वाक्य) का भाव सुलभ नहीं है। जब द्रष्टा आत्मा ही विषय रूप से नहीं जाना जा सकता तब ईश्वर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का दर्शन विषय-रूप से होगा इस कथन के लिये अवकाश ही नहीं है। दर्शन-पद के भाव को उद्घटित करने के लिये कहते हैं कि ईश्वर के प्रति स्वयं को भोग्य कर देना, अपनी सीमित सत्ता उनको समर्पित कर देना परमात्म-दर्शन है।

अवतरणिका—ईश्वर दर्शन का स्वरूप बताया। अब आत्म-दर्शन से ईश्वर-दर्शन भिन्न नहीं है इसका विवरण किया जाता है।

धिये प्रकाशं परमो वितीर्य,
स्वयं धियोऽन्तः प्रविभाति गुप्तः ।
धियं परावर्त्य धियोऽन्तरेऽत्र,
संयोजनान्नेश्वरदृष्टिरन्या ॥ 24 ॥

ईश्वर बुद्धि को प्रकाश प्रदान करके गूढ़ अगोचर होकर बुद्धि के अन्तर विलसित हो रहा है। बहिर्गत अहं-बुद्धि को अन्तर्मुख लौटा कर मूल-स्थान में जो उसका संयोजन है उससे ईश्वर-दृष्टि भिन्न नहीं है।

अवतरणिका—अहं-बुद्धि के स्वरूप पर विचार प्रकट करते हैं। देह, मैं हूँ, इस प्रकार नहीं कहता। इसलिये मैं देह नहीं हूँ यह स्पष्ट है। सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) में भी मैं नहीं था ऐसी किसीकी बुद्धि नहीं होती। मैं शरीर से विलक्षण निद्रा और जागरण में समान रूप से अनुगत कोई हूँ यह भाव है। जिस अहंभाव के उदय होने पर सब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ उदय (मानस इन्द्रिय गोचर) होता है उस अहंभाव के जन्मदेश को सूक्ष्म-बुद्धि के द्वारा खोजो।

न वक्ति देहोऽहमिति प्रसुप्तौ,
न कोऽपि नाभूवमिति प्रवक्ति।
यत्रोदिते सर्वमुदेति तस्य
धियाऽहमः शोधय जन्म देशम् ॥ 25 ॥

अवतरणिका—इस प्रकार अहंकार ही समस्त व्यवहार-ज्ञान का हेतु है यह बतलाकर उसके व्यापार-भेद से होनेवाले नामान्तरों को उत्तर श्लोक से कहते हैं। देह जड़ होने के कारण जानता नहीं और सद्वस्तु का चिद्घन होने के कारण जन्म नहीं होता। फिर हम लोगों का व्यवहार कैसे होता है यही कहा गया है।

देहो न जानाति सतो न जन्म,
देहप्रमाणोऽन्य उदेति मध्ये।
अहंकृतिग्रन्थिविबन्धसूक्ष्म-
शरीरचेतोभवजीवनामा ॥ 26 ॥

अनुदय सत्, चित्, आत्मा और जड़ देह दोनों के बीच में दोनों से विलक्षण जितना देह है उतने प्रमाण का कोई अन्य ही उदय हो जाता है। अहंकार, चिज्जड़ग्रन्थि (चेतन और जड़ की ग्रन्थि), विबन्ध (मोक्ष प्रतिद्वन्दी), सूक्ष्म शरीर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चेतः (मन), भव (संसार), जीव (प्राणात्मा) उसके नाम हैं। हम देखते हैं कि व्यवहार काल में घट-ज्ञान का उदय हुआ, पट-ज्ञान नष्ट हो गया। इस प्रकार से उदय-अस्त-सा प्रतीत होता है। युक्ति से भी ज्ञान का उदय-अस्त स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि किसी भी वस्तु का स्मरण करने के लिए ज्ञान-जन्य-संस्कार की आवश्तकता पड़ती है। ज्ञान-जन्य संस्कार ही स्मृति का उद्भावक होता है और ज्ञान के नष्ट होने पर ही संस्कार पाता है। एवं जिसका जन्म होता है वही नष्ट हो सकता है। स्वयंप्रकाश आत्मा का उदय-अस्त होना संभव नहीं। देह स्वयं जड़ है। उसमें जानने की शक्ति नहीं है। इस कारण व्यवहार की सिद्धि के लिए देहाकार परिणाम के किसी अन्य ज्ञाता को स्वयंप्रकाश आत्मा और देह के बीच में स्वीकार करना पड़ता है।

अवतरणिका—अहंकार का विलास।

रूपोद्भवो रूपततिप्रतिष्ठो,
रूपाशनो धूतगृहीत रूपः।
स्वयं विरूपः स्वविचारकाले,
धावत्यहंकार पिशाचरूपः ॥ 27 ॥

स्थूल सूक्ष्म रूपों में ही जिसका जन्म होता है, रूपों के समुदाय में ही जिसकी स्थिति है, रूप ही जिसका आहार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(जीवन साधन) है, जो अनेक रूपों का त्याग करके दूसरे को प्राप्त होता है, जो स्वयं रूपरहित है, इस प्रकार का अहंकार-पिशाच आत्म-विचार के प्रवृत्त होने पर भाग जाता है।

अवतरणिका—सर्व-जय के चतुर उपाय।

भावेऽहमः सर्वमिदं विभाति,
लयेऽहमो नैव विभाति किंचित्।
तस्मादहंरूपमिदं समस्तं,
तन्मार्गणं सर्व-जयाय मार्गः ॥ 28 ॥

अहंभाव के रहने पर ही यह सब प्रतीत होता है। अहम् के लय हो जाने पर कुछ भी प्रतीत नहीं होता। इसलिये यह सब प्रतीयमान दृश्य-रूप ही है। उसका अन्वेषण समस्त संगों के त्याग का मार्ग है।

अवतरणिका—अन्वेषण से जब अहम्-भाव लय हो जाता है तभी निष्ठा की सिद्धि होती है।

सत्या स्थितिर्नाहमुदेति यत्र,
तच्चोदयस्थान गवेषणेन।
विना न नश्येद्यदि तन्न नश्येत्,
स्वात्मैक्यरूपा कथमस्तु निष्ठा ॥ २९ ॥

जिस स्थिति में अहम् का उदय नहीं होता वही सत्य स्थिति है और उस अहम् का उदय-स्थान के अन्वेषण के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विना, नाश नहीं हो सकता। जब तक उसका नाश नहीं होता तब तक असेदात्मरूप निष्ठा नहीं हो सकती।

अवतरणिका—बहुत प्रकार से अन्वेषण के मार्ग का उपदेश कर प्रकारान्तर से हृदय-विद्या का सारभूत मज्जनाख्य मार्ग का कथन किया गया है।

कूपे यथा गाढ़जले तथान्त-
निमज्ज्य बुद्ध्या शितया नितान्तं।
प्राणं च वाचं च नियम्य चिन्वन्,
विन्देन्निजाहंकृतिमूलरूपम् ॥ 30 ॥

जिस प्रकार अगाध नीरवाले कूप में वाणी और प्राण के नियमन के द्वारा डुबकी लगाकर उसमें गिरी वस्तु को कोई ग्रहण करता है, उसी प्रकार अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के द्वारा प्राण और वाणी का नियमन करके श्वासोच्छ्वास से रहित मौनी होकर अपनी अहंकृति के जन्म-स्थान का अन्वेषण करते हुए मूलरूप को प्राप्त करें। यद्यपि मन के नियमन का ही शास्त्रों में प्रधान रूप से उपदेश होता है तथापि गाढ जल निमज्जन के दृष्टान्त के अनुरोध से प्राण-नियमन के उपदेश का स्वारस्य जानना चाहिये। मन शरीर में प्राण के अधीन रहता है। इसलिये उसके निरोध से मन का भी निरोध हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवतरणिका—मज्जन-रूप साधना का उपदेश करके अब मन से मौन के द्वारा सम्पन्न होनेवाला विचार-रूप उपायान्तर वर्णित हो रहा है।

मौनेन मज्जन्मनसा स्वमूल-
चर्चैव सत्यात्मविचारणं स्यात् ।
एषोऽहमेतन्न मम स्वरूप-
मिति प्रमा सत्यविचारणांगम् ॥ 31 ॥

मन से मौन के द्वारा डूबते हुए अपने मूल-आश्रय स्वरूप का विचार करना ही वास्तविक आत्म-विचार है। यह द्रष्टा आत्मा ही मैं हूँ, देह मेरा स्वरूप नहीं है यह अनुभव क्षमा, शास्त्रीय-बुद्धि, सत्य आत्मा के विचार का अंग है। इससे शास्त्रीय द्रष्टा-दृश्य विवेक ही यथार्थ बोध नहीं है किंतु वास्तविक बोध का वह साधन-मात्र है, यह बात सूचित हुई। इसका यह अर्थ नहीं कि शास्त्रीय विचार का कोई प्रयोजन नहीं है। वास्तव में वह अन्वेषण का अंग है। शास्त्र-ज्ञान के अतिरिक्त और कोई आत्म-ज्ञान नहीं है इस प्रकार उसी को बोध मानकर उक्त रीति से आत्मान्वेषण में प्रवृत्त न होनेवाले के लिये यह उपदेश है।

अवतरणिका—जीवन्मुक्त के आत्माभास के अहंकार का नाश होने पर, अहंकार व्यक्ति के आश्रयभूत, परमार्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वरूप को अभिव्यक्त करनेवाली शुद्ध अहंवृत्ति का स्फुरण होता है।

गवेषणात्प्राप्य हृदन्तरं त-
त्पतेदहन्ता परिभुग्नशीर्षा।
अथाहमन्यत्स्फुरति प्रकृष्टं,
नाहंकृतिस्तत्परमेव पूर्णम् ॥ 32 ॥

हृदय के अन्तर का अन्वेषण करने पर जब अहंता (अहंभाव) का मूल प्राप्त हो जाता है तब वह विनम्र शिरवाली अहंता पुनः उठने में असमर्थ होकर स्वरूप में विलीन हो जाती है। इसके अनन्तर अहंकार-रूप विलास के नाश होने पर विकारशून्य शुद्ध-स्वरूप अहम् का स्फुरण होता है। आत्माभास अहंकार के विनष्ट होने पर जिस प्रकार मेघ के हट जाने पर सूर्य स्फुरित हो जाता है उसी प्रकार कालत्रय में अनुगत अहम्-पद की लक्ष्यार्थ-भूता शुद्ध अहमवृत्ति का उदय होता है।

अवतरणिका—जीवन्-मुक्त की चर्या दुरवगम (दुर्ज्ञेय) है।

अहंकृतिं यो लसति ग्रसित्वा,
किं तस्य कार्यं परिशिष्टमस्ति।
किंचिद्विजानाति स नात्मनोऽन्य-
त्तस्य स्थितिं भावयितुं क्षमः कः ॥ 33 ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अहंकार को नष्टकर जो महानुभाव प्रभासित हो रहा है उसके लिये कौन-सा कर्तव्य शेष रह गया? वह प्रस्ताहंकार आत्म-विलासी, आत्मा से पृथक् कुछ भी नहीं देखता। उसकी वास्तविक स्थिति को मानसिक-कल्पना के द्वारा जानने में कौन समर्थ हो सकता है?

अहंकार के विलीन होते ही कर्तव्य-बुद्धि का भी विलय हो जाता है। अभेद, अखण्ड स्वरूप में भेदाभासों को देखता हुआ भी विद्वान् उनको अपने स्वरूप से भिन्न नहीं देखता। विद्वान की बाह्य-चर्या साधारण होने पर भी उसकी अभ्यन्तर स्थिति की बहिर्मुख पुरुष कल्पना भी नहीं कर सकता।

अवतरणिका—विचार की बहुलता मति-दौर्बल्य हीं है।

आह स्फुटं तत्त्वमसीति वेद-
स्तथाप्यसंप्राप्य परात्मनिष्ठाम्।
भूयो विचारो मतिदुर्बलत्वं
तत्सर्वदा स्वात्मतया हि भाति ॥ 34 ॥

वेद स्पष्ट रूप से वह सत्य, वह आत्मा तू ही है यह उद्घोष कर रहा है। इस प्रकार स्पष्ट जानकर भी परमात्मा में सहज स्थिति को प्राप्त न करके पुनः 'वह आत्मा ही मैं हूँ' 'यह शरीर मैं नहीं' इत्यादि तत्त्वानुसन्धान* का उपयोगी

*बारम्बार वैसी वृत्ति बनाना अनुसन्धान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचार मानसिक-दुर्बलता का द्योतक है। क्योंकि वह ब्रह्म कालत्रय में भी चाहे उसका अनुभव हो या न हो आत्म-रूप से हृदय में प्रकाशित होता ही है। जिस आत्मा का वेद ने ब्रह्मरूप से निर्देश किया उस आत्मा में 'तत्वमसि' इस महा-वाक्य का तत्त्वंपदार्थशोधन-पूर्वक उपदेश होते ही पवित्रान्तः-करण अधिकारी की दृढ़-निष्ठा हो जानी चाहिए। विचार या भावना के द्वारा आत्मा को ब्रह्म नहीं बनाना है। वह तो ब्रह्म है ही। आत्मस्वरूप अकृतक (स्वतः सिद्ध) है। जिसका अन्तःकरण अपरिपक्व (तत् विषयक योग्यता रहित) है उसी को आवृत्ति (बारम्बार विचार) की आवश्यकता होती है। असिद्ध अर्थ का ही बारम्बार विचार होता है। सिद्ध अर्थ को सिद्ध-रूप में ग्रहण न कर सकना ही मति दौर्बल्य है।

अवतरणिका—द्रष्टा आत्मा कदापि दृश्य नहीं हो सकता।

न वेद्म्यहं माम्रुत वेद्म्यहं मा-
मिति प्रवादो मनुजस्य हास्यः।
दृग्दृश्यभेदात्किमयं द्विधात्मा
स्वात्मैकतायां हि धियां न भेदाः ॥ 35 ॥

मैं अपने आपको नहीं जानता अथवा जानता हूँ इस प्रकार का मनुष्य का यह विकल्पवाद उपहासनीय है। क्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रष्टा और दृश्य के भेद से आत्मा दो प्रकार का है? स्वात्मैक्य अनुभव होने अनुभव-जन्य बुद्धियों का भेद नहीं होता। आत्मा स्वयं-प्रकाश है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश के लिए दीपक को न तो अपनी आवश्यकता है और न किसी अन्य दीपक की हो; क्योंकि वह प्रकाश-स्वरूप ही है। उसी प्रकार आत्मा भी अनुभव-स्वरूप है। आत्मान्वेषण के द्वारा अनात्म-तादात्म्य निवृत्त होने पर वह अपने निरावृत-स्वरूप में स्वयं शेष रह जाता है। विषय-रूप से उसका ज्ञान नहीं होता।

अवतरणिका—यदि आत्म-स्वरूप सहज-सिद्ध है तब उसमें निष्ठा क्यों नहीं प्राप्त होती है?

हृत्प्राप्य सद्धाम निजस्वरूपे
स्वभावसिद्धेऽनुपलभ्य निष्ठाम्।
मायाविलासः सदसत्सरूप-
विरूपनानैकमुखप्रवादाः॥ 36॥

स्वभाव-सिद्ध निज-स्वरूप सद्-वस्तु को उसके स्थानभूत हृदय में प्राप्त न करके वह क्या सत्, है या असत्, सरूप या विरूप, नाना है या एक, इस प्रकार के जो वाद-प्रवृत्त हैं वे अपार विचित्र-शक्तिवाले परमेश्वर की माया के विलास हैं।

अवतरणिका—आत्म-लाभ ही परम-सिद्धि है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिद्धस्य वित्तिः सत एव सिद्धिः,
स्वप्नोपमानाः खलु सिद्धयोऽन्याः ।
स्वप्नः प्रबुद्धस्य कथं नु सत्यः?
सति स्थितः किं पुनरेति मायाम् ॥ 37 ॥

सिद्ध नित्य सत् का यथार्थ-बोध ही वास्तविक सिद्धि है। अन्य अणिमादि सिद्धियाँ तो स्वप्नवत् ही हैं। क्या जागे हुए पुरुष के लिये स्वप्न सत्य है और क्या जो सत्य-स्वरूप में स्थित हो चुका है वह स्वरूप की अनुभूति की प्रतिबंधिका माया को पुनः प्राप्त हो सकता है? स्वतःसिद्ध आत्म-तत्व का अनुभव करके जो स्वरूप में सहज-निष्ठा है वही यथार्थसिद्धि है। अन्यान्य सिद्धियाँ तो नश्वर हैं। अणिमादि सिद्धियाँ हैं ही नहीं, यह महर्षि का अभिप्राय नहीं है। वे होती तो हैं पर उन्हीं को वे अद्भुत प्रतीत होती हैं जो पामर बुद्धिवाले हैं। जीवन्मुक्त पुरुष के लिये उनका कोई महत्व नहीं है। उसकी दृष्टि में सिद्धियों का महत्व स्वप्न से अधिक नहीं।

अवतरणिका—जब तक देहात्मभाव है तभी तक सोऽहम्-भावना का किंचित् प्रयोजन है।

सोऽहम् विचारो वपुरात्मभावे,
साहाय्यकारी परमार्गणस्य।
स्वात्मैक्यसिद्धौ स पुनर्निरर्थो,
यथा नरत्वप्रमितिर्नरस्य ॥ 38 ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थूल सूक्ष्म शरीर में आत्म-बुद्धि होने पर, सोऽहम्-विचार, परमात्मा मैं हूँ, इस प्रकार का मनन-निदिध्यासन रूप सूक्ष्म-विचार, परमात्मा के अन्वेषण का सहकारी होता है। जब आत्मा की अद्वितीय-भाव की सिद्धि हो जाती है तब वह उसी प्रकार निरर्थक हो जाता है जैसे मनुष्य के लिये 'मैं मनुष्य हूँ' 'मैं मनुष्य हूँ,' इस प्रकार की आवृत्ति।

अवतरणिका—सत्य-स्वरूप आत्मा नित्य-सिद्ध है, इस पर दशम पुरुष का दृष्टान्त दिया जाता है।

द्वैतं विचारे परमार्थबोधे,
त्वद्वैतमित्येष न साधुवादः।
गवेषणात्प्राग्दशमे विनष्टे,
पश्चाच्च लब्धे दशमत्वमेकम् ॥ 39 ॥

विचार-काल में द्वैत है और परमार्थ-बोध होने पर अद्वैत, यह साधु-वाद नहीं है। क्योंकि सत्य कालत्रय में सत्य ही है चाहे हम जानें या न जानें। गवेषणा के पूर्व दशम के नष्ट होने पर और पश्चात् मिलने पर भी दशम की दशमता एक ही है।

दशम की कथा—दस व्यक्ति यात्रा कर रहे थे। मार्ग में उन्हें एक नदी पार करनी पड़ी। इस पार आकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उन्हें ने अपने सब साथियों की गणना की। प्रत्येक अपने को छोड़कर दूसरों को गिनता था। इसलिये उन्हें यह भ्रान्ति हो गयी कि हम लोग नौ हैं, दशवाँ नष्ट हो गया है। तदनन्तर किसी योग्य पुरुष के परामर्श से जब अपने सहित गणना की तब दसवाँ भी है ऐसा सत्य-ज्ञान उन्हें हुआ। यह दशम की कथा है।

अवतरणिका—कर्तृत्व परित्याग से ही कर्म-नाश होता है।

करोमि कर्मेति नरो विजानन्,
बाध्यो भवेत्कर्मफलं च भोक्तुम्।
विचारधूता हृदि कर्तृता चेत्
कर्मत्रयं नश्यति सैव मुक्तिः ॥ 40 ॥

जब मनुष्य अहंकार को पुरस्कृत करके 'मैं कर्ता हूँ' इस प्रकार का मिथ्या-निश्चय कर लेता है तब उसे कर्म फल भोगने के लिये बाध्य होना पड़ता है। यदि आत्म-स्वरूप के भान-स्थान हृदय में कर्तृत्व-भ्रान्ति विचार से नष्ट कर दी जाय तो संचित, क्रियमाण, प्रारब्ध तीनों कर्म नष्ट हो जाते हैं। कर्मत्रय का विनाश ही मुक्ति है।

कर्मत्रय का विनाश ही मुक्ति है, इस वचन से यह सिद्ध होता है कि कर्म ही बन्धन हैं और कर्म की बाधकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अहंकार से सिद्ध होती है। निष्कृष्टार्थ यह है कि अहंकार-पुरस्कृत कर्मों में ही बाधकता है। इसलिये अहंकार के नाश से आत्मलाभ-मुक्ति फलित होती है।

अवतरणिका—सत्य-रूप आत्मा में न बन्धन है और न मोक्ष।

बद्धत्वभावे सति मोक्षचिन्ता,
बन्धस्तु कस्येति विचारणेन।
सिद्धे स्वयं स्वात्मनि नित्यमुक्ते,
क्व बन्धचिन्ता क्व च मोक्षचिन्ता ॥ 41 ॥

मैं बद्ध हूँ, इस प्रकार का भाव होने पर ही मोक्ष की चिन्ता होती है। तब बन्ध किसका है? इस प्रकार के सूक्ष्म अध्यात्म-विचार के द्वारा मूल-स्वरूप अखण्ड आत्मा की अनुभूति होती है। तब बन्ध मोक्ष की चिन्ता के लिये अवकाश नहीं रह जाता।

अवतरणिका—त्रिविध मुक्ति से अहम् का नाश-रूप परमार्थ-मुक्ति विलक्षण है।

रूपिण्यरूपिण्युभयात्मिका च,
मुक्तिस्त्रिरूपेति विदो वदन्ति।
इदं त्रयं या विविनक्त्यहं धी-
स्तस्याः प्रणाशः परमार्थमुक्तिः ॥ 42 ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुक्ति के सम्बन्ध में विचार करनेवाले रूपिणी, अरूपिणी और उभयात्मिका तीन प्रकार की मुक्ति बतलाते हैं अर्थात् कुछ लोगों का कथन है कि मुक्ति-पुरुष का रूप होता है, कुछ कहते हैं नहीं होता है और कुछ का कहना है कि उसकी दोनों अवस्थाएँ रहती हैं। परन्तु इन तीनों का अहं-बुद्धि विवेचन करती है। उसका विनाश ही परमार्थ-मुक्ति है।

सद्दर्शनं द्राविडवाङ्निबद्धं,
महर्षिणा श्रीरमणेन शुद्धम्।
प्रबंधमुत्कृष्टममर्त्यवाण्या-
मनूद्य वासिष्ठमुनिर्व्यतानीत् ॥ 48 ॥

वासिष्ठ गणपति मुनि ने महर्षि रमण द्वारा द्रविड तमिष भाषा में विरचित पवित्र उत्कृष्ट "सद्दर्शनम्" नामक ग्रन्थ का संस्कृत भाषा में अनुवाद करके उसी रचना की।

सत्तत्त्वसारं सरलं दधाना,
मुमुक्षुलोकाय मुदं ददाना।
अमानुषश्रीरमणीयवाणी-
मयूखभित्तिर्मुनि वाग्विभाति ॥ 43 ॥

सद्विद्योपदेश रूप परमार्थ-सत्य के सार को सरल रूप से धारण करती तथा मुमुक्षु-जनों को आनन्द देती हुई महर्षि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रमण की अमानुषी वाणी-रूप किरणें वासिष्ठ गणपति मुनि की वाणी-रूपा भित्ति को प्रकाशित करते हुए स्वयं दर्शनीय हो रही हैं।*

---

*जिस प्रकार सर्वत्र फैलती हुई किरणें जब किसी भित्ति (दीवार) में संक्रान्त होती हैं तब भित्ति प्रकाशित करके स्वयं भी पूर्वापेक्षा अधिक प्रकाशित होने लगती है, उसी प्रकार महर्षि की वाणी के अनुवादक वासिष्ठ-मुनि की वाणी की शोभा बढाते हुए स्वयं भी अधिक प्रकाशित अर्थात् प्रचारित हो रही है। संस्कृत में अनूदित हो जाने पर अनेकों संस्कृतज्ञों को इस पीयूष पान का सौभाग्य प्राप्त हो गया। रमणीय-वाणी रूप मयूखें फिर मुनि वाग्भित्ति में दर्शनीय है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि संस्कृत वाङ्मय की मर्यादा के बिना उल्लंघन किये तथा साहित्य समयावकाश मूलग्रन्थ का प्रति श्लोक प्रति वाक्य ही मुनि वाग्रूप संस्कृत-सद्दर्शन में अवतीर्ण हुआ है। केवल स्थूल रूप से मूल ग्रन्थ तात्पर्य को ग्रहण करके अनुवाद नहीं किया गया है। रमणीय वाणी की जो अमानुष विशेषता है वह उपकी उपनिषत्तुल्य का द्योतक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

Ramani Brothers, Printe

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीरमण वाणी

(भाग—1, 2)

श्री रमणाश्रम
तिरुवण्णामलै

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीरमण वाणी

(भाग—1, 2)

भक्तों के विविध प्रश्नों के
भगवान श्री रमण महर्षि के दिये
उत्तरों का संग्रह

प्रकाशक :

श्री टी. एन. वेंकटरामन,
प्रेसिडेंट, बोर्ड आफ ट्रस्टीस

श्रीरमणाश्रम

तिरुवण्णामलै—दक्षिण भारत

तीसरा संस्करण] 1976 [मूल्य रु 3-00

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस पुस्तक के सब अधिकार प्रकाशक नें अपने स्वाधीन रखा है।

मुद्रक : 'लिबर्टी प्रेस,' मद्रास–1.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

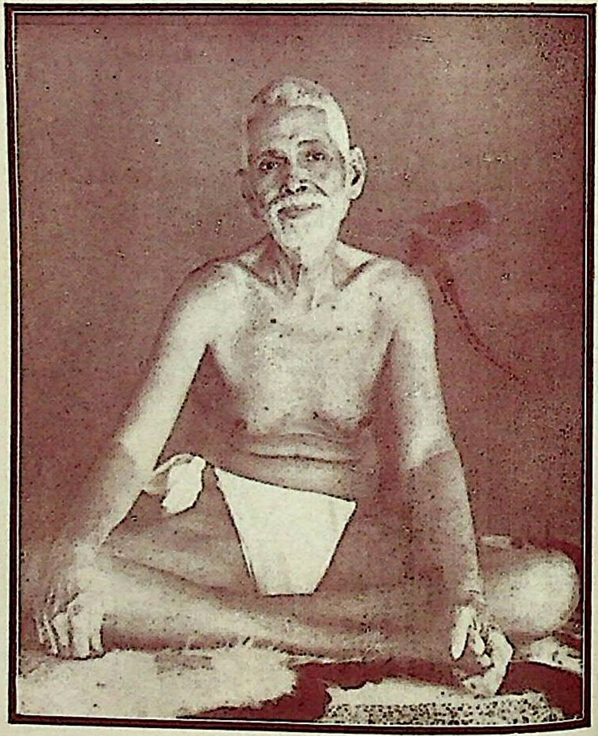

भगवान श्रीरमण महर्षि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रस्तावना

भगवान श्रीमण महर्षि के असंख्य भक्तों की तीव्र इच्छापूर्ति और साधारण जनता के कल्याणार्थ यह पुस्तक प्रकाशित की जाती है। भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर पूछे गये प्रश्नों और उनके उत्तरों का यह संग्रह है। हममें से कइयों के मन में ये प्रश्न उठते हैं। तब हम अपने अंदर मंथन करते हैं। श्रीभगवान के उत्तर दिव्य प्रज्ञान का सार है।

केवल ब्रह्म ही एक मात्र सद्वस्तु है इस अद्वैत सिद्धांत का परम सत्य इस पुस्तक में बड़ी अच्छी तरह समझाया गया है।

सत्य सदा सर्वदा व सब के लिये एक-सा ही है। इसलिए श्रीभगवान सच्चे साधकों को अपने निजी अनुभव का संशोधन और सूक्ष्म निरीक्षण करने, वैसे ही अपने स्वरूप अर्थात् हृदय का शोध करने का बोध देते हैं। यह हृदय नित्य आत्मस्वरूप है। जो कुछ हम देखते या जानते हैं वह उसका आभासमात्र ही है।

श्रीमहर्षि के मुँह से निकला हुआ प्रत्येक शब्द उपनिषद के प्रज्ञान का सार है। श्री रमण वाणी सचमुच सत्य वाणी है।

जिज्ञासु साधक को इस पुस्तक से उपयोगी व्यावहारिक सूचना, सलाह और उचित मार्ग भी मिलेगा जिससे उस को विश्वास होगा कि उनका सच्चा स्वरूप दिव्य है। ऐसी प्रतीति उनको अपनी साधना में बड़ी सहायकरूप बन सकेगी।

इस पुस्तक के अनुवाद में हमको कोषिक्कोड़ हिन्दी प्रचारक विद्यालय के प्रधान अध्यापक श्री क. म. शिवराम शर्मा से सहायता मिली है। हिन्दी प्रचार सभा के कार्यकर्ता, जैन धर्म शास्त्रज्ञ विद्वान श्री महेन्द्रकुमार ने अपना अमूल्य समय देकर मूल प्रति तथा प्रूफ का संशोधन व संपादन कर हमें बड़ी सहायता पहुँचायी है। इसका हम सहर्ष यहाँ उल्लेख करना चाहते हैं। इन दोनों महाशयों के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

हिन्दी प्रचार प्रेस को भी धन्यवाद देना हमारा कर्तव्य है। उनके सहयोग से ही यह पुस्तक इतनी जल्दी छप सकी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री हरिहर शर्मा हममें से एक हैं। हमारे संकेत मात्र से अनुवाद से लेकर अंतिम रूप देने तक का भार अपने ऊपर लेकर उन्होंने स्वभावतया इसको भी अपनाकर पूरा किया है, उनका हम आभार मानते हैं।

तमिल तथा गुजराती मूल प्रति के आधार पर इस पुस्तक का अनुवाद किया गया है। पाठकों से प्रार्थना करते हैं कि अशुद्धियों के विषय में प्रकाशन विभाग, रमणाश्रम, तिरुवण्णामलै को सूचित करें, तो अगले संस्करण में ठीक करने में सुविधा होगी।

टी. एन. वेंकटरामन
प्रबंधक-अध्यक्ष

अनुक्रमणिका

भाग 1

		पृष्ठ
1.	कर्म और त्याग	1
2.	मन और एकांत	13
3.	मनोनिग्रह	17
4.	भक्ति और ज्ञान ...	25
5.	आत्मा हृदय में विराजमान है ...	28
6.	आत्मा और अहंता ...	37
7.	आत्मानुभूति ...	43
8.	गुरु और गुरु-कृपा ...	49
9.	शांति और सुख ...	58

भाग 2

1.	आत्मविचार ...	61
2.	साधना और कृपा ...	72
3.	ज्ञानी और जगत् ...	80
4.	हृदय ही आत्मा ...	92
5.	अहम् और अहंवृत्ति	98

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ नमो भगवते श्रीरमणाय

श्रीरमण वाणी-भाग 1

1. कर्म और त्याग

भक्त—मनुष्य की आध्यात्मिक अनुभूति का सर्वोच्च लक्ष्य क्या है?

महर्षि—आत्मसाक्षात्कार।

भक्त—क्या गृहस्थ आत्मसाक्षात्कार कर सकता है?

म—निस्संदेह कर सकता है। विवाहित हो चाहे अविवाहित, मनुष्य आत्मा का साक्षात्कार अवश्य कर सकता है। कारण यह है कि वह (आत्मा) यहाँ है व अभी है, स्थायी और सर्वव्यापी है। यदि आत्मा का यह गुण न होकर दूसरा गुण होता और प्रयास के बाद कभी किसी समय ही वह प्राप्य हो सकती तो उसकी खोज में कोई विशेषता ही नहीं रहती। जो स्वाभाविक नहीं है वह स्थायी भी नहीं हो सकता। इसी लिए मैं कहता हूँ कि वह यहाँ है व अभी है।

भक्त—नमक की पुतली यदि समुद्र में डूबने लगे तो भला कहीं बरसाती अंगरखा उसकी रक्षा कर सकता है? हमें जिस संसार में रात-दिन अथक परिश्रम करना पड़ रहा है वह समुद्र के समान है।

म—हाँ, और मन बरसाती अंगरखे के समान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—यह तब संभव है जब कि मनुष्य काम में मग्न हो और अनासक्त भाव से एकान्तता प्राप्त कर सके। जीवन के कर्तव्यों के बीच उसको ध्यान और भजन के लिए समय ही नहीं मिलता।

म—हाँ, आसक्ति के साथ होनेवाले सभी कर्म बेड़ी रूप बन्धन हैं। अनासक्त होकर काम करनेवाले सभी कर्मों से निर्लिप्त ही रहते हैं। वह काम करता हुआ भी एकान्त का ही सेवन करता है। अपने काम में लगे रहना ही सच्ची उपासना है और भगवान में लीन रहना ही सच्चा आसन है।

भक्त—क्या मुझे घर छोड़ना चाहिये या नहीं?

म—अगर वही तुम्हारे प्रारब्ध में हो, तो यह प्रश्न ही नहीं उठता।

भक्त—तो फिर आपने अपने यौवन काल में अपना घर क्यों छोड़ा?

म—भगवान की इच्छा के विना कुछ बनता ही नहीं। इस जन्म में भी मनुष्य के जीवन का सारा व्यावहारिक-क्रम उसके प्रारब्ध के अनुमार ही होता है।

भक्त—क्या मैं अपना सारा समय आत्मा की खोज में लगाऊँ, यह अच्छा है? यदि मुझसे वैसा न हो सके तो क्या मुझे चुपचाप बैठे रहना चाहिये?

म—यदि अपने आपको किसी दूसरे काम में लगाये बिना चुप रह सको, तो बहुत ही अच्छा है। यदि यह असंभव हो तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जब तक साक्षात्कार प्राप्त न हो तब तक आत्मा की खोज में हीं चुप क्यों न रहें? इसलिए जब तक मनुष्य कार्यशील रहने के लिए विवश है तब तक वह आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न बिलकुल न छोड़े।

भक्त—क्या मुझे इस जन्म के कर्मों के फल अगले जन्मों में भोगने नहीं पड़ेंगे?

म—क्या तुम्हारा जन्म अभी हुआ है? तुम दूसरे जन्मों की चिन्ता क्यों करते हो? सच बात तो यह है कि न तो जन्म है और न मरण। जो जन्म लेता है उसीको मृत्यु का और उससे छुटकारा पाने का विचार करने दो।

भक्त—क्या आप मृतकों के दर्शन करा सकते हैं?

म—क्या, तुम अपने बंधुओं को उनके जन्म के पूर्व पहचानते थे जो अब उन्हें उनकी मृत्यु के बाद देखना चाहते हो?

भक्त—मोक्ष के मार्ग में गृहस्थ का क्या स्थान है? मोक्ष पाने के लिए उसको संसार त्याग कर सन्यासी बनने की आवश्यकता है या नहीं?

म—तुम ऐसा क्यों समझते हो कि तुम गृहस्थ हो? यदि तुम सन्यासी बन जाओगे, तो तुम सदा यही समझते रहोगे कि मैं सन्यासी हूँ। तुम चाहे गृहस्थी चलाओ या घरबार छोड़कर वन में चले जाओ तुम्हारा मन तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ेगा। अहंता ही सब विचारों का मूल है। वही शरीर और संसार की सृष्टि करती है और तुम में यह विचार भर देती है कि तुम गृहस्थ हो। अगर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तुम सन्यासी बनो, तो अंतर इतना ही होगा कि "मैं गृहस्थ हूँ" के स्थान पर तुममें यह विचार आ जायगा कि "मैं सन्यासी हूँ"। घर के वातावरण के बदले वन का वातावरण आ जाता है। उनसे मानसिक विघ्न दूर नहीं होंगे। नया वातावरण पाकर वे और भी बढ़ जायँगे। इसलिए स्थान के बदलने से ही कोई लाभ नहीं होगा। एकमात्र विघ्न मन है। घर में रहो चाहे वन में, उस मन को जीतना आवश्यक है। यदि तुम वन में मन को जीत सको तो घर में क्यों नहीं जीत सकोगे? तो फिर स्थान क्यों बदलना चाहिये? चाहे जैसी परिस्थिति रहे, प्रयत्न तो तुम्हारा अभी से शुरू हो जाना चाहिये।

भक्त—सांसारिक कर्मों में मग्न रहने पर भी समाधि-सुख का अनुभव संभव है?

म—'मैं काम करता हूँ' यह विचार ही विघ्न उत्पन्न करता है। अपने से पूछो: 'काम कौन करता है?' याद करो तुम कौन हो। तब काम तुम्हारे लिये बंधन नहीं बनेगा। वह अपने ही आप होता रहेगा। बिलकुल काम करने का प्रयत्न न करो, न उसको पूरी तरह छोड़ने का ही। तुम्हारा प्रयत्न ही बंधन है। जो होनेवाला है वह होकर ही रहेगा। यदि तुम्हारे प्रारब्ध में काम करना न होगा, तो बहुत अधिक दौड़धूप करके भी तुम काम नहीं कर पाओगे। प्रारब्ध में यदि काम करना बदा है, तो तुम उससे किसी तरह छूट ही नहीं सकते, तुमको उसमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लगना ही पड़ेगा। इसलिए इस बात को तुम उस परम शक्ति पर छोड़ दो। तुम अपने इच्छानुसार किसी कर्म का त्याग या स्वीकार नहीं कर सकोगे।

भक्त—भगवान ने कल कहा कि जब पुरुष अंदर ही अंदर ईश्वर की खोज में तल्लीन रहता है तब बाहर का काम आप ही आप चलता रहता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु की जीवनी में लिखा है, कि जब वे अपने शिष्यों के सम्मुख भाषण देते थे तब वे सचमुच अपने अंदर के श्रीकृष्ण परमात्मा की खोज में मग्न रहा करते थे और अपने शरीर की सारी सुध-बुध खोकर केवल श्रीकृष्ण संबन्धी बातें करते जाते थे। यहाँ यह संदेह पैदा होता है कि क्या ऐसी दशा में कर्म अपने आप होते रहते हैं? क्या शारीरिक कर्मों पर थोड़ा बहुत ध्यान देना आवश्यक नहीं है?

म—आत्मा ही सर्वस्व है। क्या तुम आत्मा से भिन्न हो? या आत्मा के बिना काम चल सकता है? आत्मा विश्वव्यापी है। इसलिए कर्म चलता ही रहेगा चाहे तुम उसमें लगे रहने का प्रयत्न करो या उससे छूटने का। काम अपने आप होता रहेगा। तभी तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि कौरवों को मारने के संबन्ध में वह सोच विचार न करे। क्योंकि उनको तो दैव ने पहले ही मार डाला था। उसका काम यह नहीं था कि एक कार्य करने का संकल्प कर बाद में उससे विमुख होकर उसमें लगने का प्रयत्न न करे; बल्कि यही था कि उस महान शक्ति के वश में होकर उसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदेश का पालन करने में अपनी प्रकृति के अनुसार बरतता जाय।

भक्त—यदि मैं ध्यान न दूँ तो संभव है, मेरा काम या तो बिगड़ जाय या बंद पड़ जाय।

म—आत्मा का ध्यान करना ही काम का ध्यान करना है। तुम अपने को शरीर ही मानते हो, इसीसे तुम यह समझते हो कि काम तुम से ही हो रहा है। परन्तु शरीर, उसकी क्रियाएँ व वह काम भी आत्मा से भिन्न नहीं है। तुम काम पर पूरा ध्यान दो चाहे बिल्कुल न दो, अंतर कुछ नहीं होगा। मान लो तुमको एक जगह से दूसरी जगह जाना है। तब तुम अपने हर क़दम के उठाने और रखने पर ध्यान नहीं देते। फिर भी निश्चित समय में तुम अपने आपको निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा हुआ पाते हो। तुम्हारे ध्यान न देने पर भी चलने का काम बराबर जारी रहा। इसी प्रकार सब काम अपने आप चलते रहेंगे।

भक्त—यह तो सोते-सोते चलने के समान हुआ।

म—सोते रहनेवाले कई ऐसे हैं जो सोते-सोते चलते भी हैं। यह भी बिल्कुल वही बात है। एक बच्चा सोता रहता है। उसकी माता उसे खिलाती-पिलाती है। सोते-सोते ही वह बच्चा अपना खाना वैसे ही खा लेता है जैसे जागते समय खाता है। पर दूसरे दिन जागकर वह माता से शिकायत करने लगता है कि रात को उसने खाया ही नहीं। माता और पास के दूसरे लोग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जानते हैं कि उसने बराबर खाया; पर वह कहता रहता है कि उसने खाया ही नहीं। उसको इसका भान नहीं था। यही असल बात है। काम तो हुआ अवश्य।

दूसरा भी उदाहरण लें। एक यात्री गाड़ी में सो जाता है। बैल चलते हैं, कहीं रुक जाते हैं और कहीं खोल दिये जाते हैं। यात्रा में इतनी सारी बातें होती हैं। पर यात्री को इनमें से किसी का भान नहीं रहता। जागने पर वह अपने को एक नये स्थान पर पाता है। यद्यपि उसकी यात्रा पूरी हो गयी, तो भी रास्ते की घटनाओं से वह एकदम अपरिचित है। यही बात आत्मा के संबंध में है। सदा जागृत-आत्मा की तुलना गाड़ी में सोते रहने-वाले यात्री से कर सकते हैं। बैलों का चलना जागृत अवस्था है। उनका अचल खड़े हो जाना 'समाधि' है। कारण यह है कि समाधि का अर्थ जागृत-सुषुप्ति है अर्थात् मनुष्य कार्य का स्मरण तो रखता है पर उस के विषय में कोई संबंध नहीं रखता। बैल जुए से जुते तो हैं पर चलते नहीं हैं। बैलों को जुए से खोल देना निद्रावस्था है, क्योंकि वहाँ कार्य एकदम बंद रहता है जैसे बैलों की जुए से मुक्ति।

या फिर सिनेमा की ही बात लें। वहाँ परदे पर दृश्य दिखाये जाते हैं। पर चित्रों के हिलने डुलने से परदे पर कोई असर नहीं होता और न कोई अंतर ही पड़ता है। प्रेक्षक चित्रों पर ध्यान देता है, न कि परदे पर। परदे के बिना चित्रों का कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। फिर भी उस परदे पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। वैसे ही आत्मा रूपी परदे पर चित्र, क्रियाएँ आदि चलती हुई दिखलायी पड़ती हैं। मनुष्य इन क्रियाओं पर ध्यान देता है, पर आवश्यक वस्तु आत्मा की ओर लक्ष्य नहीं करता। फिर भी यह चित्रमय जगत आत्मा से भिन्न नहीं है। मनुष्य परदे अर्थात् आत्मा पर ध्यान रखे, चाहे न रखे, क्रियाएँ तो चलती ही रहेंगी।

भक्त—पर सिनेमा का तो कोई एक संचालक होता हैं।

म—सिनेमा का खेल निर्जीव वस्तुओं द्वारा होता है। दीप, चित्र, परदा आदि सभी निर्जीव हैं। इसलिए उन्हें चलाने के लिए चेतनायुक्त एक कर्ता की आवश्यकता है। पर आत्मा तो परम चैतन्य है, इसलिए वह स्वयं संपूर्ण है। आत्मा से भिन्न कोई संचालक हो ही नहीं सकता।

भक्त—मैं शरीर को संचालक समझने के भ्रम में नहीं पड़ता। मैं गीता के 18-वें अध्याय के 61-वें श्लोक के इन शब्दों की तरफ़ आपका ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

अर्थात्—ईश्वर सभी जीवों के हृदय में बसते हैं और अपनी माया के बल से (उन) सभी जीवों को मानों यंत्र पर चढ़ाकर घुमाने (नचाते) हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—यहाँ यही दर्शाया गया है कि शारीरिक क्रियाओं के लिए एक संचालक आवश्यक है। शरीर जड़ है इससे उसके लिए एक चेतनाशक्ति आवश्यक है। लोग समझते हैं कि वे जीव हैं। इसलिए श्रीकृष्ण ने कहा है कि ईश्वर जीवों के संचालक के रूप में सबके हृदय में वास करते हैं। सच बात तो यह है कि न तो कोई जीव ही है और न उससे भिन्न कोई संचालक ही। आत्मा ही में सर्वस्व समा जाता है। वही परदा है, वही चित्र है, वही दर्शक है, वही नट भी है; संचालक, दीप, चित्रशाला और सब-कुछ वही है। तुम आत्मा-रूपी अपने आप को शरीर व जीव मानकर जो गड़बड़ करते हो यह वैसा ही है जैसे सिनेमा देखनेवाला दर्शक अपने आप को ही नट समझे। परदे के विना अकेला नट कोई दृश्य दिखा सकता है? जो मनुष्य अपने कर्म को आत्मा से भिन्न समझता है उसकी उस नट की जैसी ही बात है।

भक्त—यह तो उलटा संचालक को सिनेमा के खेल में भाग लेने के लिए कहने के बराबर हुआ। इसके लिए हमें नींद में चलना सीखना चाहिये, यही न?

म—कर्म और उसकी अवस्थाएँ मनुष्य के दृष्टिकोण के अनुसार हुआ करती हैं। कौआ, हाथी और साँप अपने एक अंग से दो भिन्न क्रियाएँ कर लेते हैं। कौआ एक ही आँख से दोनों बाजुओं को देख लेता है। हाथी सूंड से ही हाथ का भी काम लेता है और नाक का भी। साँप आँखों से देखता भी है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और सुनता भी। चाहे यह मानो कि कौए के एक ही आँख है या दो आँखें हैं, हाथी की सूंड को हाथ मानो या नाक अथवा साँप की आँखों को आँख कहो या कान, मतलब तो एक ही है। उसी प्रकार ज्ञानी का मन है। उनके लिए जागृत-सुषुप्ति या स्वप्न-सुषुप्ति और स्वप्न-जागृति सब समान हैं।

भक्त—पर इस स्थूल जागृत जगत में हमें स्थूल शरीर से काम लेना पड़ता है। यदि कार्य करते-करते हम सो जाएँ या सोते-सोते काम करने लगें तो काम बिगड़ ही जायगा।

म—सुषुप्ति अज्ञान नहीं पर वह विशुद्ध अवस्था है। जाग्रत अवस्था भी ज्ञान नहीं है, यही अज्ञान है। सुषुप्ति में सम्पूर्ण भान और जागृति में पूर्ण अज्ञान रहता है। तुम्हारी वास्तविक अवस्था इन दोनों में जैसी है, वैसी ही इनसे परे भी है। आत्मा ज्ञान और अज्ञान दोनों से परे है। सुषुप्ति, स्वप्न और जागृति आत्मा के सम्मुख होनेवाली घटनाएँ मात्र हैं। तुमको उनका भान हो या न हो वे अवश्य होती हैं। यही ज्ञानी की अवस्था है। उनके अन्दर जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाएँ चक्कर लगाती रहती हैं, जैसे यात्री के सोते रहने पर भी बैल का चलना, खड़े रहना और जुए के बन्धन से मुक्त होना। ये उत्तर अज्ञानी के दृष्टि-बिंदु से दिये गये हैं। नहीं तो ऐसे प्रश्न ही नहीं उठते।

भक्त—हाँ, आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न उठ ही नहीं सकता। क्योंकि प्रश्न पूछनेवाला ही कौन रहेगा?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परन्तु मैंने तो दुर्भाग्यवश आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया है अब तक।

म—हाँ, तुम्हारे लिए वही तो रुकावट है। तुम्हें यह ख्याल छोड़ देना चाहिए कि तुम अज्ञानी हो और अभी तुम्हें आत्मा का साक्षात्कार करना बाकी हैं। तुम आत्मा ही हो। क्या कभी ऐसा कोई समय रहा जब कि तुम उस आत्मा को जानते नहीं थे?

भक्त—तब क्या हमें नींद में जागने और दिन में स्वप्न देखने का अभ्यास करना होगा?

म—(हँसते हैं)।

भक्त—मैं मानता हूँ कि मनुष्य का स्थूल शरीर आत्मा का अखण्ड ध्यान करने के परिणाम स्वरूप समाधि में प्रवेश करता है व इस कारण से स्थिर भी हो सकता है। ऐसी दशा में शरीर सक्रिय भी हो सकता है व निष्क्रिय भी। ऐसे ध्यान में अवस्थित मन पर शरीर या इंद्रियों की क्रियाओं का असर नहीं होता अथवा मन की अशांति के कारण शारीरिक क्रिया होती है सो भी नहीं है। दूसरे जोर देकर कहते हैं कि शारीरिक क्रियाएँ समाधि या अखण्ड ध्यान में अवश्य ही बाधा डालती हैं। इस विषय में भगवान का क्या अभिप्राय है? मेरे कथन के लिए आप ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—आप दोनों के कथन ठीक हैं। आप सहज निर्विकल्प समाधि की बात कर रहे हैं और दूसरे केवल निर्विकल्प समाधि की। केवल निर्विकल्प समाधि में मन आत्मा की ज्योति में निमग्न हो जाता है। वही मन सुषुप्तावस्था में अज्ञान के अंधकार में डूबा रहता है। साधक समाधि से जागने के बाद समाधि और कर्मण्यावस्था का अंतर जानने लगता है। शरीर, दृष्टि, प्राण और मन की क्रिया और विषयों का ज्ञान, ये सब केवल निर्विकल्प समाधि के साधक के मार्ग में रुकावटें हैं।

सहज समाधि में मन आत्मा में निमग्न होकर उसी में लय हो जाता है। इसलिए ऊपर बताये अंतर या रोड़े इस दशा में टिकते नहीं हैं। ऐसे महापुरुष के कर्म निद्रा में निमग्न बालक के आहार के समान होते हैं। अर्थात् बाहर के लोगों को तो उस कर्म का रूप दीखता है, पर कर्ता को नहीं। चलती गाड़ी में जाने-वाले सोते यात्री को गाड़ी की गति का पता नहीं है। उसका मन अंधकार में डूबा हुआ है। पर सहज ज्ञानी को उनकी शरीरिक क्रियाओं का भी भान नहीं रहता। उनका मन आत्मस्वरूप चिदानन्द में तल्लीन होकर नष्ट हो जाता है।

निद्रा, केवल निर्विकल्प समाधि और सहज निर्विकल्प समाधि का अंतर निम्नलिखित विवरण से बखूबी समझ में आ जायगा :—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निद्रा	केवल निर्विकल्प समाधि	सहज निर्विकल्प समाधि
1. मन सजीव	1. मन सजीव	1. मन मृत
2. अंधकार में निमग्न मन	2. ज्योति में निमग्न मन	2. आत्मा में तल्लीन मन
	3. कुएँ के पानी में लटकने वाली रस्सी से बंधे घड़े के समान	3. समुद्र में मिली व उसी में लीन होनेवाली नदी के समान
	4. आवश्यकता पड़ने पर रस्सी के दूसरे सिरे के सहारे ऊपर खींचे जानेवाले घड़े के समान	4. समुद्र से लौटा न आ सकनेवाली नदी के समान

आत्म-साक्षात्कार-प्राप्त ऋषि का मन पूर्णरूप से नष्ट हुआ रहता है; परन्तु देखनेवालों को ऐसा मालूम पड़ सकता है कि उनका भी वैसा ही मन है जैसे मामूली मनुष्य का। इसलिये ऋषि का 'अहम्भाव' सिर्फ़ ऊपर से देखने की वस्तु होता है। परंतु वस्तुतः उनके 'अहम्भाव' में न कर्तृत्व भाव रहता है, और न कर्म भाव ही।

---

2. मन और एकान्त

भक्त—मौनव्रत से क्या लाभ है?

म—आन्तरिक मौन आत्म-समर्पण है और वह अहंकार-रहित जीवन है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—क्या सन्यासी के लिये एकान्त आवश्यक है?

म—एकान्तता मनुष्य के मन में है। अपार जन-समूह में रहकर कारोबार चलाते हुए यदि मनुष्य मन की संपूर्ण शांति क़ायम रख सके तो वह सचमुच एकान्त का ही सेवन करता है। जो मनुष्य वन में रहते हैं, पर मन को निग्रह में नहीं रख सकते उन्हें एकान्तवासी कैसे कह सकते हैं? इसलिये एकान्तता सचमुच मनकी एक वृत्ति मात्र हैं। सांसारिक वस्तुओं में आसक्त मनुष्य एकांत सेवन नहीं कर सकता। चाहे जहाँ रहे, अनासक्त मनुष्य सदा एकान्त का ही सेवन करता रहता है।

भक्त—'मौन' क्या है?

म—वाणी और विचार इन दोनों से परे की जो स्थिति है वह 'मौन' है। वह एक प्रकार का मानसिक क्रिया-विहीन ध्यान है। मन को वश में करना ही ध्यान है। गहरे ध्यान का मतलब निरन्तर वाणी है। मौन नित्य वाणी है। वहीं भाषा का बारहमासी प्रवाह है। बोलने से वह रुक जाता है। शब्द उस मूक-भाषा को रोकते हैं। एक मनुष्य घंटों व्याख्यान सुनकर आनंदित होता हैं पर वह अपने को सुधार नहीं सकता है। दूसरी तरफ़ मौन शाश्वत होकर सारे मानव समाज का कल्याणकर्ता होता है। मौन का अर्थ ही वाक्पटुता है। मौखिक व्याख्यान में मौन की जितनी वाक्पटुता नहीं होती। मौन निरंतर वाणी है। वह सर्वोत्तम भाषा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक ऐसी स्थिति होती है जहाँ शब्द रुक जाता है और मौन फैलता रहता है।

भक्त—तब फिर हम अपने विचारों को एक दूसरे पर कैसे प्रकट करें?

म—यह तभी आवश्यक है जब द्वैतभाव रहता है।

भक्त—भगवान ही जगह-जगह जाकर लोगों में सत्य का प्रचार क्यों न करें?

म—तुमने कैसे जाना कि मैं वैसे नहीं कर रहा हूँ। क्या मंच पर चढ़कर उपस्थित लोगों के समक्ष भाषण देने में ही उपदेश कार्य समा जाता है? उपदेश करने का मतलब है ज्ञान का सरल दान। वैसा करने का एकमात्र सच्चा मार्ग मौन ही है। कोई मनुष्य ,एक घंटे तक भाषण सुने व अपने को सुधारने के लिए वहाँ से एक प्रेरणा लेकर न लौटे तो उस मनुष्य के विषय में तुम क्या समझोगे? इसके विपरीत इसकी तुलना दूसरे एक ऐसे मनुष्य के साथ करो जो एक पवित्र मौनी विभूति के समक्ष थोड़ी देर बैठे रहने के बाद वहाँ से अपने जीवन में संपूर्ण परिवर्तन करने का दृढ निश्चय कर वहाँ से निकलता है। कोई भी असर किये बिना पुकार पुकार कर उपदेश करना बेहतर है या आत्मिक शक्ति का प्रवाह प्रसार कर मौन का सेवन कर बैठे रहना?

अब तुम सोचकर बताओ कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है, प्रभावशून्य सस्वर भाषण या मौन होकर आत्मशक्ति का फैलाव?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भला, वाणी का उद्भव कैसे होता है?

शुद्ध चैतन्य से अहंता उत्पन्न होती है। वह अहंता विचार को जगाती है और विचार शब्द को जन्म देते हैं। इस तरह वाणी मूलस्रोत की परपौत्री है। यदि वाणी कुछ प्रभाव डाल केसतो जरा सोचो कि मौन द्वारा किया उपदेश कितना अधिक शक्तिमान हो सकता है! इस सरल शुद्ध शत्य को, लोग अपने नित्य, शाश्वत अनुभव के सदा विद्यमान सत्य को समझते नहीं हैं। सत्य आत्मा का है। जिसे आत्मा का भान न हो ऐसा क्या कोई रह सकता है? पर हर कोई इस सत्य को सुनने के लिए तैयार न होकर दूर भागता फिरता है और यह जानने को उत्सुक रहता है कि आगे क्या है, स्वर्ग क्या है, नरक क्या है और पुनर्जन्म क्या है?

मनुष्य को गूढता जितनी प्रिय है उतना सत्य नहीं। इसीलिए धर्म भी उसके उसी रस का पोषण करते हैं जिससे वह घूम-फिरकर अंत में आत्मा के प्रति आकृष्ट हो। साधन चाहे जो हो तुम्हें तो अन्त में आत्मा की तरफ़ मुड़ना ही होगा। तब फिर अभी, यहीं आत्मा में स्थिर क्यों न होते हो? अन्य (सप्तलोक) लोकों की कल्पना करने या प्रेक्षक बनने के लिए भी तो आत्मा अनिवार्य है। इसलिए वे सब आत्मा से भिन्न नहीं हैं। अज्ञानी भी जब अन्य वस्तुओं को देखता है तब वह सचमुच आत्मा को ही देखता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३. मनोनिग्रह

भक्त—मैं मन का कैसे निग्रह कर सकता हूँ?

म—यदि आत्मा का ज्ञान हो जाय, तो मनोनिग्रह करने की बात ही नहीं रहती। जब मन का नाश हो जाता है तब आत्मा प्रकाशमान होती है। ज्ञानी का मन चाहे काम करे या न करे, उसके अंदर केवल आत्मा सतत विद्यमान रहती है। क्योंकि मन, शरीर और जगत आत्मा से भिन्न नहीं हैं, और आत्मा से अलग उनका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। वे आत्मा से भिन्न हो ही नहीं सकते। आत्मा का भान होने के बाद इन प्रतिच्छायाओं की चिन्ता ही क्यों करनी चाहिए? क्योंकि इन प्रतिच्छायाओं का आत्मा पर क्या असर पड़नेवाला है?

भक्त—यदि मन ही एक प्रतिच्छाया है, तो आत्मा को कैसे पहचाना जाय?

म—आत्मा स्वयंप्रकाशित हृदय में है। प्रकाश (चैतन्य) हृदय से निकलकर बुद्धि तक पहुँचता है जो मन का अधिष्ठान है। जगत मन के द्वारा देखा जाता है। आत्मा के प्रतिबिंबित प्रकाश से ही तुम जगत को देखते हो। मन की क्रिया द्वारा जगत दृश्यमान होता है। जब मन आत्मा से प्रकाश पाता है तब उसे जगत का भान होता है। जब वह उससे यह प्रकाश नहीं पाता तब उसे जगत का भान भी नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि मन को अंदर की ओर, प्रकाश के उद्गम की ओर मोड़ा जाय, तो बाह्यज्ञान विनष्ट हो जाता है, और तब 'केवल-आत्मा' हृदय में प्रकाशित होती है।

चंद्र सूर्य के प्रकाश से जगमगाता है। सूर्य के अस्त होने पर चंद्र के प्रकाश के सहारे वस्तुओं का बोध प्राप्त किया जाता है। जब सूर्य निकल आता है तब चंद्र की कोई आवश्यकता नहीं रहती, चाहे आकाश में उसकी थाली जैसी आकृति बनी क्यों न रहे। मन और हृदय को इसी प्रकार समझो। मन की उपयोगिता उसके प्रतिबिम्बित प्रकाश में है जो वस्तुओं को देखने के काम में आता है। अंदर की ओर फिराने पर मन स्वयं-प्रकाश ज्योति के स्रोत में समा जाता है और तब उसकी स्थिति दिन में रहनेवाले चंद्र की-सी हो जाती है।

अंधकार में प्रकाश के लिए दीप की आवश्यकता रहती है; पर सूर्योदय के बाद उस दीप की आवश्यकता नहीं रहती; सब वस्तुएँ अपने आप दृष्टिगोचर हो जाती हैं और सूर्य को देखने के लिए अतिरिक्त दीप की कोई आवश्यकता नहीं रहती। अपनी आंखें उस स्वयं-प्रकाशित सूर्य की ओर फिराओ, तो वह दिखायी पड़ता है। मन की भी यही बात है। वस्तुओं को देखने के लिए मन से प्रतिबिम्बित प्रकाश की आवश्यकता है। हृदय को देखने के लिए मन को उसकी ओर मोड़ना पर्याप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। तब मन की कोई गणना नहीं रहती; क्योंकि हृदय स्वयं-प्रकाशित है।

भक्त—पिछले अक्टूबर में आश्रम छोड़कर जाने के बाद करीब दस दिनों तक मुझे उस शान्ति का भान रहा जो भगवान के समक्ष प्राप्त होता है। मैं अन्यान्य कार्यों में मग्न रहता था। तब भी शान्ति की अन्तर्वाहिनी धारा बराबर बहा करती थी। मेरी कुछ वैसे ही द्वैतभाव की स्थिति थी जैसी नीरस व्याख्यान सुनते-सुनते ऊंघनेवाले की। फिर वह शान्ति-सुख एकदम नष्ट हो गया। पुरानी विचित्रताएँ फिर प्रविष्ट होने लगीं। कार्यभार के मारे ध्यान के लिए समय ही नहीं मिलता। काम में लगे रहते हुए 'मैं हूँ' यह रट लेना पर्याप्त है?

म—(ज़रा रुककर) तुम यदि मन को बलवान बनाओ, तो पहली शान्ति चालू रहेगी। उसका कालप्रमाण चालू अभ्यास द्वारा प्राप्त मन के बल पर निर्भर है। ऐसा सबल मन ही तेज धारा में टिक सकता है। उस स्थिति में काम में लगे रहो या न रहो, धारा प्रवाह में कोई अंतर या रुकावट नहीं पड़ती। बाधा डालनेवाला कर्म नहीं है पर 'मैं कर्म करता हूँ' यह विचार ही बाधा डालता है।

भक्त—मन को बलवान बनाने के लिए क्या किसी विशेष ध्यान की आवश्यकता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—जो कुछ काम करो वह तुम्हारा नहीं है, ऐसा ख्याल अपने समक्ष रखो, तो पर्याप्त है। इस ध्यान के लिए आरंभ में कठिन प्रयत्न आवश्यक है। पर धीरे-धीरे यह सहज और स्थिर बन जाता है। काम अपने आप चलता रहेगा और तुम्हारी शान्ति निश्चल टिकी रहेगी।

ध्यान तुम्हारा सच्चा स्वभाव है। अब तुम उसको 'ध्यान' यह विशिष्ट नाम देते हो। क्योंकि तुम्हें विचलित करनेवाले कई तरह के विचार सता रहे हैं। जब इन विचारों को हटा दिया जायगा तब तुम अकेले बाकी रह जाओगे—अर्थात् विचारमुक्त ध्यानावस्था में रहोगे। यही तुम्हारा सच्चा स्वभाव है। दूसरे उन सतानेवाले विचारों से मुक्त होकर तुम इसी स्वाभाविक स्थिति में पहुँचने का प्रयत्न करते हो। उन विचारों को दूर करने की क्रिया को 'ध्यान' कहते हैं। जब यह अभ्यास पक्का हो जाता है तब सच्चा स्वभाव सच्चे ध्यान के रूप में व्यक्त होता है।

भक्त – ध्यान में लगने पर अन्य विचार बड़े ज़ोर के साथ सताने लगते हैं।

म—हाँ, ध्यान में सब तरह के विचार उठा करते हैं, यह ठीक है। तुम्हारे अंदर जो कुछ विचार छिपे हुए हैं उन्हें बाहर निकालना ही है। यदि वे नहीं निकलेंगे, तो फिर उनका नाश कैसे होगा? विचार अपने आप उठा करते हैं। वे यथाक्रम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विनष्ट होने के लिये ही उठते हैं। इस प्रकार विचारों के नाश होने पर मन बलवान हो जाता है।

भक्त—जीवन में ऐसे भी अवसर आते हैं जब मनुष्य या वस्तु का एक धुंधला-सा पारदर्शक-सा रूप सामने आ जाता है जैसे कि स्वप्न में। हम ऐसे रूप को बाह्य वस्तु नहीं मानते। फिर भी मन में उसके अस्तित्व का निष्क्रिय भान रहता है। तो भी इस अवस्था में किसी प्रकार का कोई सक्रिय भान नहीं होता। मन में एक गंभीर शान्ति रहती है। क्या यह वही समय है जब कि हमें आत्मा में डुबकी लगानी चाहिये, या यह किसी मोहिनी विद्या—हिप्नोटिसम—का परिणाम है? तात्कालिक शांति के विचार से क्या इस दशा को उत्तेजन देना उचित है?

म—मन में शान्ति के साथ-साथ एक चेतनता रहती है। इसी स्थिति की प्राप्ति हमारा लक्ष्य है। वही आत्मा है। इस बात को न पहचानकर इस विषय में प्रश्न पूछना यही सिद्ध करता है कि वह दशा स्थिर नहीं है, क्षणिक है।

जब बहिर्मुख प्रवृत्तियाँ रहती हैं तब 'डुबकी' मारना शब्द का उपयोग यथार्थ माना जा सकता है और तब मन को वैसा करने के लिए अंदर की ओर चलाना पड़ता है जिससे वह बाह्य वस्तुओं की सतह के नीचे डूब जाय। परन्तु चैतन्य में बाधा पहुँचाये बिना यदि शान्ति बनी रहे, तो फिर डुबकी की क्या आवश्यकता है? यदि इस दशा को आत्मा समझकर प्राप्त न किया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाय, तो वैसे प्रयत्न को डुबकी मारने की क्रिया माना जा सकता है। उस अर्थ में कहा जा सकता है कि वह दशा आत्मसाक्षात्कार करने या डुबकी लगाने के उपयुक्त है। इस तरह तुम्हारे अंतिम दोनों प्रश्न उठने ही नहीं चाहिए।

भक्त—आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए प्रायः बालक स्वरूप का उपयोग किया जाता है। मन उस तरफ़ झुकता है। इस विशेष आकर्षण से पार कैसे पा सकते हैं?

म—यदि तुम्हारा ध्यान आत्मा की ओर ही केन्द्रित है, तो फिर बालक और उनके प्रति तुम्हारी भावनाओं का विचार ही क्यों करते हो?

भक्त—तिरुवण्णामलै की तीसरी यात्रा के बाद मेरी अहंता इतनी बढ़ गयी है कि ध्यान की सुगमता हट गयी है। यह दशा अनावश्यक व अस्थिर मात्र है या इस बात का द्योतक है कि आगे मुझे ऐसे स्थानों में नहीं आना चाहिये?

म—यह कल्पना मात्र है। यह स्थान हो चाहे कोई दूसरा, तुम्हारे अंदर ही है। इस भ्रम से बचना आवश्यक है। स्थानों का मानसिक क्रियाओं से कोई सम्बंध नहीं हैं। तुम्हारा वातावरण भी तुम्हारी अपनी इच्छा के अनुसार बनाया नहीं जा सकता है। वह तो स्वयं नियमानुसार ही होता है; तुम्हें उससे ऊपर उठना है, तुम उसमें जकड़ मत जाओ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(शाम के क़रीब पांच बजे जब श्री. भगवान पहाड़ी पर गये हुए थे तब एक साढ़े आठ साल का बालक मण्डप में आ बैठा। श्री भगवान की अनुपस्थिति में वह बालक प्रसिद्ध रचयिताओं और रचनाओं के उद्धरण दे-देकर योग और वेदान्त के सम्बंध में सरल साहित्यक तमिल भाषा में बोल रहा था। क़रीब पौने घंटे बाद जब श्री भगवान फिर मण्डप में पधारे तब पूरी शान्ति छायी हुई थी। श्री भगवान के सम्मुख वह बालक क़रीब बीस मिनट तक मौन बैठा रहा—भगवान पर दृष्टि लगाये बैठा रहा। फिर उसकी आँखों से आंसुओं की धारा बहने लगी। अपने बायें हाथ से आंसुओं को पोंछकर वह यह कहता हुआ बाहर चला गया कि उसे अब आत्मसाक्षात्कार करना है।)

भक्त—इस बालक के असाधारण गुणों का मर्म क्या है?

म—इसके पूर्व जन्म के संस्कारों का प्रभाव इस पर जबरदस्त पड़ा है। फिर भी वे केवल निश्चल व शान्त मन में व्यक्त होते हैं। हम सबने अपने अनुभव से देखा है कि जब किसी बात का स्मरण करने के लिए कठिन प्रयास व्यर्थ हो जाता है तब मन की शांत अवस्था में वह बात अचानक चमक उठती है।

भक्त—उपद्रवी मन को शान्त और निश्चल कैसे बनाया जा सकता है?

म—या तो उसकी जड़ तक, यहाँ तक पहुँचो कि वह बिलकुल गायब हो जाय या फिर भगवान की ऐसी शरणागति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वीकार करो कि वह विलकुल मर जाय। आत्मसमर्पण और आत्मज्ञान एक ही हैं। दोनों में आत्मसंयम अंतर्गत है। परमेश्वर की शक्ति को जब अहंकार पहचानता है तब वह शरण में आता है।

भक्त—'संसार' ही मन को चंचल करने का मुख्य कारण मालूम पड़ता है। उससे मैं कैसे बच सकता हूँ? मानसिक शान्ति प्राप्त करने का एक अच्छा उपाय क्या सन्यास नहीं है?

म—संसार केवल तुम्हारे मन में है। जगत सदैव यह नहीं कहता रहता है कि 'लो मैं यह रहा' यदि वैसी वस्तु-स्थिति होती तो वह कायम के लिए बना रहता और तुम्हें निद्रा में भी उसके अस्तित्व का बोध बना रहता। परन्तु नींद में तुम्हें वह बोध तो होता नहीं है। इसलिए वह अनित्य है। इसलिये वह नि:सत्व है। सत्वरहित होने से ही आत्मा उसको आसानी से जीत सकती है। आत्मा ही नित्य है। आत्मा को अनात्मा से न मिलाना ही सन्यास है। जिस अज्ञान के कारण यह मिथ्या धारणा बनी रहती है उस अज्ञान के दूर होते ही अनात्मा का अस्तित्व मिट जाता है; यही सच्चा सन्यास है।

भक्त—ऐसे सन्यास के विना भी क्या हम निर्लिप्त बनकर कर्म नहीं कर सकते हैं?

म—आत्मज्ञानी ही सच्चा कर्मयोगी हो सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—भगवान द्वैतवाद का खण्डन करते हैं?

म—जब तुम आत्मा को अनात्मा समझते हो तभी द्वैतभाव उठता है। 'अद्वैत' है अनात्मा का इनकार करना।

---

4. भक्ति और ज्ञान

भक्त—सबको दंडवत् वंदना करके सबको परमात्मा के रूप में ही देखना हृदयस्थ श्रीकृष्ण के साक्षात्कार करने का मार्ग श्रीमद् भागवत में बताया हुआ है। क्या यह आत्मज्ञान का सही मार्ग है? मन के द्वारा अतीत वस्तु को पाने के लिये मानसिक 'मैं कौन हूँ' इस परिप्रश्न की अपेक्षा मन के सामने आनेवाले सभी को भगवत्स्वरूप मानकर उपासना करना क्या सरल मार्ग नहीं है?

म—हाँ जब तुम सब में परमात्मा को देखते हो तब तुम परमात्मा का चिन्तन करते हो या नहीं? सब में परमात्मा को देखने के लिये परमात्मा का चिन्तन आवश्यक है। परमात्मा को मन में लाना ही ध्यान है और साक्षात्कार के पूर्व की सीढ़ी भी ध्यान ही है। अपने में आत्मा को पहचानना ही आत्मज्ञान है। वह अपने से भिन्न कभी हो ही नहीं सकता। पहचानने के पूर्व ध्यान आवश्यक है। तुम ध्यान परमात्मा का करो या आत्मा का—दोनों एक ही हैं। क्योंकि लक्ष्य एक ही है। तुम आत्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से किसी भी प्रकार दूर भाग नहीं सकते। तुम सब में तो भगवान को पाना चाहते हो; पर अपने में नहीं, यह कैसे हो सकता है? यदि 'सब' ईश्वर हैं तो क्या उन 'सब' में तुम नहीं हो? यदि तुम स्वयं ईश्वर हो, तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? भागवत में और कुछ अन्य ग्रंथों में भी यही मार्ग बताया गया है। इस अभ्यास के लिये भी किसी द्रष्टा या विचारक की आवश्यकता है। वह द्रष्टा कौन है?

भक्त—सर्वव्यापी ईश्वर के दर्शन कैसे कर सकते हैं?

म—ईश्वर के दर्शन करने के लिए ईश्वर होना पड़ता है। ईश्वर से भिन्न कोई 'सर्वत्र' नहीं है जिसमें उसका व्याप्त होना अवशेष हो। केवल वही सत् है।

भक्त—क्या हमारे लिए बारंबार गीता का पारायण करना आवश्यक है?

म—हाँ, सदा करना चाहिये।

भक्त—ज्ञान और भक्ति के बीच में क्या संबंध है?

म—आत्मा में व्याप्त शाश्वत, अखंड व स्वाभाविक दशा ज्ञान है। आत्मा को प्राप्त करने के लिये आत्मा पर प्रेम रखना चाहिये। वस्तुतः ईश्वर ही आत्मा है। इसलिये आत्मा पर प्रेम ही ईश्वर पर प्रेम है। वही भक्ति है। इस तरह ज्ञान और भक्ति एक ही हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—घंटे-भर या उससे अधिक समय तक नाम जपता हुआ मैं निद्रा की-सी दशा में पड़ जाता हूँ। जागने पर मैं समझने लगता हूँ कि नाम-स्मरण के समय जप में बाधा पड़ी थी। इसलिये मैं फिर प्रयत्न करता हूँ।

म—'निद्रा की सी दशा'? यह ध्यान देने योग्य है। यही स्वाभाविक दशा है। अब तुम में जो अहंता है उसी कारण तुम समझते हो कि वह स्वाभाविक दशा काम में बाधा पहुँचा रही है। इसलिए इस अभ्यास को बराबर जारी रखो जब तक तुम यह न अनुभव करने लगो कि वह स्वाभाविक दशा है। जब तुम देखोगे कि जप गौण है और वह अपने आप हीं चल रहा है। इस समय तुम्हारा जो संदेह हैं उसका कारण यह है कि तुम अपने मन को वही मानते हो जो जप करता है। जप का अर्थ है अन्य सब विचारों को भगाकर एक ही विचार में लगे रहना। वही उसका उद्देश्य है। जप से ध्यान में पहुँचते हैं और उस ध्यान का फल आत्मसाक्षात्कार या ज्ञान है।

भक्त—मुझे 'नाम-जप' कैसे करना चाहिये?

म—भक्तिभाव के बिना कृत्रिम व ऊपर-ऊपर केवल मुख से भगवान का नामोच्चारण करना ठीक नहीं है। ईश्वर का नाम लेने के लिये हम सचाई से उनको पुकारें और अपने को पूर्णरूप से उसके चरणों में समर्पित कर दें। ऐसे आत्मसमर्पण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के बाद ही भगवान का नाम मनुष्य की जीभ पर सदा बना रह सकता है।

भक्त—तब फिर विचार की क्या आवश्यकता है?

म—समर्पण का सच्चा अर्थ समझने के बाद हीं समर्पण सफल होता है। ऐसा ज्ञान बार बार विचार करने और अनुशीलन के बाद ही होता है। निश्चित रूप में उसका परिणाम आत्मसमर्पण है। मन, वचन और कर्म से किये हुए किसी समर्पण और ज्ञान में अंतर नहीं है। समर्पण तभी सम्पूर्ण हो सकता है जब कि वह संदेहरहित हो। यह सौदे का विषय नहीं है। भगवान से कुछ माँगा भी नहीं जा सकता। ऐसे समर्पण में सब समा जाता है। ज्ञान व वैराग्य वही है; भक्ति और प्रेम भी वही है।

---

5. आत्मा हृदय में विराजमान है

भक्त—मैंने एक संतपुरुष का ऐसा कथन सुना है कि वे अपना आध्यात्मिक अनुभव अपनी भृकुटी पर प्राप्त करते हैं। पर श्री भगवान कहते हैं कि आत्मा हृदय में छाती की जरा दायीं ओर विराजमान है। इन दोनों मतों में किसे सही माना जाय?

म—जो द्रष्टा और दृश्य के संबंध से परे है वही अंतिम व पूर्ण अनुभव माना जा सकता है। ऐसी अवस्था प्राप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने पर वैसा अनुभव कहाँ मिलता है इसकी चिंता करने की आवश्यकता नहीं।

भक्त—परंतु (1) आध्यात्मिक अनुभव का केन्द्र भृकुटी है और (2) वह हृदय में है। इन दो मतों में कौन-सा सही है?

म—अभ्यास के लिये तुम भृकुटी पर भले ही ध्यान लगाओ परंतु यह केवल एक प्रकार की मानसिक भावना ही होगी। वस्तुतः जिस अवस्था में (संपूर्ण प्राप्ति में) तुम्हारा सारा व्यक्तित्व ही समा जाता है उस अनुभव की परम दशा तो देश तथा काल से परे है। जब तुम इस दशा में पहुँच जाओगे तब इस दशा से भिन्न ऐसे किसी कर्ता के रूप में तुमको किसी कर्मरूपी केंद्र का अनुभव करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

भक्त—मैं अपना प्रश्न ज़रा दूसरे शब्दों में रखना चाहता हूँ। क्या भृकुटी को आत्मा का स्थान मान सकते हैं?

म—आत्मा चैतन्य का मूल है और वह मन की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों दशाओं में समान रूप से रमण करती रहती है। ध्यानावस्थित पुरुष को यदि निद्रा घेर लेती है तो उसको झोंके आने लगती हैं और सिर भी हिलने लगता है। परंतु सारे अनुभव का अंतिम रूप आत्मा जो भृकुटी या मस्तक के किसी भाग में ही बसती हो तो ऊपर बतायी जैसी घटना बन नहीं सकती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि निद्रा के बीच में भृकुटी पर आत्मानुभव न होता हो, तो यह केन्द्र इसका स्थान नहीं माना जाना चाहिए। और मानते हो तो, इसका अर्थ यही होगा कि आत्मा अपना स्थान बारबार बदलती रहती है जो बिलकुल बेहूदी बात है।

सच बात तो यह है कि साधक स्वयं जिस चक्र पर ध्यान लगाते हैं उनको उससे आत्मानुभव प्राप्त हो जाता है। परंतु इस कारण से उनके आत्मानुभव की अमुक जगह अपने आप आत्मा का स्थान नहीं बन सकती।

खूब गाढ निद्रा में भी जहाँ आत्मानुभव प्राप्त हो सके वही आत्मा का असल निवास-स्थान है और वह केवल हृदय ही हो सकता है।

महात्मा कबीर के पुत्र कमाल की एक बडी रसीली कथा हैं। मस्तक (और उसके साथ भृकुटी भी) आत्मा का स्थान नहीं हो सकता। इसके सबल प्रमाण के लिये यह कथा उत्तम उदाहरण है। सब जानते हैं कि कबीर बड़े भारी रामभक्त थे। वे रामभक्त साधु-संतों को सदा खिलाया करते थे। एक दिन ऐसा प्रसंग आया कि अनेक साधु-संत ऐसे समय आ गये जब कि दूसरे दिन खिलाने के लिए उनके घर में अन्न की सामग्री न थी। सवेरा होने के पहले उसकी व्यवस्था कर लेने के सिवाय और कोई चारा नहीं था। इसलिये अपने पुत्र कमाल के साथ आवश्यक सामग्री लाने के लिये रात के समय ही कबीरदास स्वयं निकले।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कथा ऐसी है। एक व्यापारी के घर की दीवार में छेद कर पिता व पुत्र ने आवश्यक सामग्री घर से बाहर निकाल ली। तब सत्यपालन के निमित्त घर-मालिक से यह सच्ची बात कहने के लिये उनको जगाने कमाल फिर अंदर गये। उससे निवृत होकर जब वे पलायन करने के लिए छेद में घुसे तो उसीमें फँस गये। सिर बाहर व धड़ अंदर। घरवाले उनका पीछा कर पकड़ने आये। कमाल ने कबीर साहब को बुलाकर कहा कि वे उसका सिर काटकर अपने साथ ले जायँ जिससे उन्हें चोर का पता न लगे। कबीर चोरी के माल के साथ कमाल का सिर भी साथ लेकर घर पहुंचे। तुरंत सिर को सावधानी से छिपा दिया। दूसरे दिन कबीर ने संतों को खिलाया। शामको वे सब भजन कीर्तन कर शहर में घूमने निकले।

इसी बीच में जिसके घर चोरी हुई उसने कमाल के धड़ को राजा के पास चोरी की बात बताकर सौंप दिया। राजा ने धड़ किसका हैं इसका ठीक-ठीक पता लगाने के लिये राज-मार्ग के एक प्रधान स्थान पर उसे लटकवाया व उसकी उत्तर-क्रिया करने के लिए जो कोई उसे पहचानकर लेने आवे उसे पकड़ने के लिये पास ही छिपे वेश में एक पुलीस को भी खड़ा कर रखा।

शामको कबीरदास की वह भजन-कीर्त्तन-मंडली राजमार्ग के उस स्थान पर पहुँची जहाँ कि कमाल का धड़ लटका कर रखा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गया था। वह शरीर तो मुरदा ही था; फिर भी वह मंडली के साथ गाने व ताली बजाकर कीर्तन करने लगा।

इस कथा का तात्पर्य यही है कि मस्थक या भृकुटी आत्मा का स्थान हो नहीं सकता। दूसरा भी उदाहरण देखें। युद्धक्षेत्र में लड़ते-लड़ते किसी एक योद्धा का मस्तक दूसरे की तलवार के प्रहार से अचानक काट दिया जाता है; तब धड़ शव होकर जबतक गिर न पड़ता तब तक दौड़ता और अपने हाथ से तलवार चलाता भी रहता है।

भक्त—परंतु कमाल का शरीर तो घंटों पहले प्राणहीन हो गया था और चोर का पता लगाने के लिए उसे लटका कर रखा था।

म—जिसे तुम मरण कहते हो वह कमाल के लिए कोई असाधारण अनुभव नहीं था। वे जब छोटे थे उस समय जो एक घटना हुई, उसे सुनो। बाल्यावस्था में कमाल का समवयस्क एक मित्र था। वे दोनों प्रति दिन एक साथ खेला करते थे। शामको खेल के अंत में किसका कितना दाँव हुआ उसे लेने देने का हिसाब कर ज़बानी याद रख दूसरे दिन उसके अनुसार वे खेलना शुरू कर देते थे। एक दिन शामको खेल के दाँव के हिसाब के अनुसार कमाल को अपने मित्र से कुछ लेना निकला। दूसरे दिन अपना लेना वसूल करने के लिये कमाल अपने मित्र के घर गये। वहाँ वे देखते क्या हैं कि यह लड़का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बरामदे में सोया पड़ा है व उसके सगे-संबंधी उसे घेरकर बैठे रो रहे हैं।

कमाल ने उनसे पूछा—'क्या बात है? कल शाम को तो यह मेरे साथ खेल रहा था। मुझे उससे दाँव में कुछ लेना भी बाकी है।' लड़का तो मर गया ऐसा कहकर वे लोग और भी जोरशोर से रोने लगे। इसपर कमाल ने कहा, 'नहीं, नहीं, यह कहीं मरा नहीं हैं। मुझे दाँव न चुकाने के लिये ढोंग रचकर सो रहा है।' उसके सगे-संबंधियों ने क्रोधित होकर कमाल से कहा 'तुम स्वयं इसे बराबर जाँचकर देखो। उसका शरीर एकदम ठंडा व कड़ा हो गया है।' कमाल ने कहा 'यह भी इसका ढोंग ही है यह मैं बराबर जानता हूँ। शरीर ठंडा व कड़ा हो गया इसमें क्या है? मैं भी ऐसा कर सकता हूँ।' ऐसा कहकर कमाल जमीन पर लेटकर सो गया और सबके देखते देखते पल भर में मर गया।

अपने लड़के की मृत्यु पर रोनेवाले वे लोग अब कमाल की मृत्यु के लिये भी रोने लगे। पर कमाल तुरंत उठ बैठे और कहने लगे, 'देखा? मैं मर गया-सा हो गया, फिर भी सजीव खड़ा हो गया हूँ। यह मुझे इसी प्रकार ठगना चाहता है, पर वह इस ढोंग से मुझे ठग नहीं सकता। कथा का अंत ऐसा है कि कमाल की सहज आत्मिक शक्ति के प्रताप से मरा हुआ लड़का भी सजीव हो उठा व उससे कमाल ने अपना दाँव भी वसूल कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिया। कथा का सार यही है कि शरीर की मृत्युमात्र से आत्मा का नाश नहीं होता। शरीर के साथ उसका संबंध केवल जन्म मरण से ही नहीं होता है तथा स्थूल शरीर के अंदर का उसका निवासस्थान, भृकुटी या दूसरे चक्र में ध्यान लगाने के अभ्यास के कारण भृकुटि या दूसरी जगह होता है ऐसा भी मानना नहीं चाहिये। आत्मानुभूनि की शुद्धावस्था कभी भी अनुपलब्ध नहीं रहती है। इतना ही नहीं, पर वह मन की तीनों अवस्थाओं से परे होती है और उनमें से किसी एक से भी वह सीमित नहीं होती।

भक्त—हम यह मान लें कि आत्मा भृकुटी में नहीं वसती है तो भी जब हम निद्राधीन होते हैं तब आत्मा हृदय में ही विद्यमान रहती है इसे हम कैसे जान सकते हैं?

म—निद्रा में तुम जीवित थे या नहीं इसे तुम नहीं कह सकते। इसलिए तुम्हारा यह प्रश्न बिलकुल असंगत है।

भक्त—परन्तु मुझे निद्रा में हृदय के अन्दर आत्मानुभव होता नहीं है।

म—निद्रा में तुम जीवित नहीं थे ऐसा क्या तुम कह सकते हो? जिस प्रकार गाढ़ी निद्रा में भी तुम्हारा अस्तित्व रहता है फिर भी उस समय तुमको उसका भान नहीं होता, उसी प्रकार गहरी नींद के बीच में आत्मा का अनुभव (दूसरी दो दशाओं में होता है उसी तरह) हृदय में ही होता रहा, फिर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी तुमको उसका भान नहीं था। इसलिए तुम यह शंका कर रहे हो।

भक्त—आत्मा का स्थान यद्यपि हृदय में है फिर भी आत्मानुभव चाहे किसी में हो सकता है ऐसा आपने कहा, तो क्या यह सम्भव नहीं कि भृकुटी पर उग्र ध्यान का अभ्यास करने से वह चक्र ही आत्मा का स्थान बन जाय?

म—जहाँ तक मनोनिग्रह के लिए एक विशेष स्थान को निश्चित करने के बाद ध्यान का अभ्यास एक निश्चित हद तक ही रहे वहाँ तक आत्मा के निवासस्थान के विषय का कोई भी विचार मात्र स्वानुभव रहित एक सिद्धान्त ही रहेगा। यदि तुम अपने को द्रष्टा मानते हो, तो जिस स्थान पर तुम ध्यान लगाते हो वह दृश्य पदार्थ बन जाता है। यह केवल मानसिक भावना ही है। इससे उलटा जब तुम द्रष्टा को ही देखते हो तब तुम आत्मा में निमज्जित हो जाते हो तथा वह और तुम एक हो जाते हो; वही हृदय है।

भक्त—तो फिर भृकुटी पर ध्यान धरने के अभ्यास के लिए आप सलाह दे सकते हैं?

म—यह साधना का केवल एक मार्ग है। जिस चक्र पर ध्यान लगाते हैं उसके साथ तादात्म्य प्राप्त करना साधक का लक्ष्य होना चाहिए। ऐसे अभ्यास द्वारा द्रष्टा से भिन्न दीखनेवाले चक्र का अन्त में अलग अस्तित्व बन्द हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भृकुटी पर इस प्रकार ध्यान लगाने का अभ्यास अच्छी साधना है। क्योंकि सभी विचार आरम्भ में ही शारीरिक (अथवा मानसिक) चक्षु द्वारा बाहर निकलते हैं। दूसरे शब्दों में कहें, तो विचार 'दृष्टि' का अनुसरण करते हैं। भृकुटी पर ध्यान लगाने के अभ्यास से विचार एक निश्चित समय के लिए सफलतापूर्वक निग्रह में आते हैं।

ऐसा होने पर भी इतना जरूरी है कि भृकुटी पर ध्यान धरने की इस साधना के साथ-साथ जप भी साधक के लिए आवश्यक है। क्योंकि मन को संयमी या असंयमी बनाने के लिए शारीरिक चक्षु के महत्व के बाद शरीरिक कान का अत्यधिक महत्व है। मानसिक चक्षु के (पदार्थों के मानसिक चित्र के) महत्व के बाद मानसिक कर्ण का (विचार की मानसिक कल्पना का) महत्व माना जाता है। इन दोनों प्रकार से मन को काबू में लाकर बलवान बनाया जा सकता है या उसे स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने का अवसर देकर कमज़ोर भी बनाया जा सकता है।

इस कारण से किसी चक्र पर, उदाहरण के लिए भृकुटी पर मानसिक चक्षु को लगाते समय हमको नाम अथवा मन्त्र का मानसिक जप करने का अभ्यास भी चालू रखना चाहिए। ऐसा न करोगे, तो ध्यान के केन्द्र तक नहीं पहुँच सकोगे। अन्त में ऊपर वर्णित साधना नाम, शब्द या आत्मा (इसे तुम चाहे जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाम दो) तुम्हारे पसन्द किये हुए केन्द्र के साथ तादात्म्य कर देती है। बाद को तो शुद्ध चैतन्य या एकमात्र आत्मा ही विलसती है।

भक्त—परन्तु श्रीभगवान हम को किसी विशेष चक्र पर ध्यान लगाकर अभ्यास करने का आदेश क्यों नहीं देते?

म—योगशास्त्र कहता है कि मस्तिष्क आत्मा का निवास-स्थान है। पुरुषसूक्त में हृदय को उसका स्थान बताया है। इस कारण उठनेवाली शंकाओं से साधक को बचाने के लिए मैं कहता हूँ कि 'मैं' अथवा 'आत्म चैतन्य' के सूत्र को पकड़ो और बाद को ठीक उसके मूल तक पहुँच जाओ। क्योंकि इस अहंभाव के विषय में किसीको शंका नहीं हो सकेगी और प्रत्येक प्राणी को अन्त में अहंभाव के इस मूल को, आत्मा के पास हीं पहुँचना है।

इसलिये तुम आत्मविचार का ('अहं' के मूल को शोधने के आत्मानुसन्धान का) अभ्यास करोगे तो तुम आत्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करनेवाले हृदय को पा सकोगे।

---

6. आत्मा और अहंता

भक्त—समुद्र में मिलनेवाली नदी जैसे अपना अलग अस्तित्व खो बैठती है वैसे ही मनुष्य का भी मृत्यु के बाद अलग अस्तित्व मिट जाता है या नहीं, जिससे कि उसका पुनर्जन्म ही न हो सके?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—परन्तु पानी जब भाप बनकर पहाड़ों पर वृष्टि के रूप में गिरता है तब वह फिर नदी का रूप धारण कर समुद्र में जा पहुँजता है। वैसे ही जीवों का भी निद्रा में अलग अस्तित्व मिट जाता है और फिर अपने संस्कारों या पूर्ववासना के अनुसार जाग उठते हैं। वैसे मृत्यु के समय भी संस्कार-युक्त जीव नष्ट नहीं होते।

भक्त—यह कैसे संभव है?

म—डालों के कट जाने पर भी पेड़ फिर पनप उठता है। जब तक जड़ मजबूत हैं तब तक पेड़ बराबर बढ़ता रहता है। वैसे ही मृत्यु के समय हृदय से मिल जाने के कारण संस्कार नष्ट नहीं होते, उचित समय पर पुनः उद्भूत हो जाते हैं। यही जीवों के पुनर्जन्म का हेतु है।

भक्त—असंख्य जीव और उनसे सम्बद्ध अपार विश्व हृदय में लय हुए सूक्ष्म संस्कारों से कैसे अनंत जीव तथा जीवों से भरा यह विशाल जगत उत्पन्न हो सकता है?

म—जैसे बहुत बड़ा बरगद का पेड़ एक छोटे बीज से फूट निकलता है वैसे ही यह नाम-रूपयुक्त जगत और जीव सूक्ष्म संस्कारों से उत्पन्न होते हैं।

भक्त—पूर्ण अर्थात् समष्टि रूप परमात्मा से व्यष्टि रूप जीव की उत्पत्ति कैसे होती है और फिर वह अपने उद्गम स्थान में कैसे जा पहुँचता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—जैसे आग से चिनगारी निकलती है वैसे ही पूर्ण से जीव निकलता है। इस चिनगारी को ही अहंता कहते हैं अहंकार की उत्पत्ति के साथ ही अज्ञानी उसे एक वस्तु के साथ मिला देता है। वह किसी वस्तु से मिले विना अलग नहीं रह सकता।

यह मिलन अज्ञान का परिणाम है और उस मिलन का नाश ही मनुष्य के प्रयत्नों का ध्येय है। दूसरी वस्तु के साथ एकीकरण के भाव का जब नाश हो जाता है तब अहंता विशुद्ध होकर अपने मूलाधार में जा मिलती है। अपने शरीर के साथ का झूठा मिलन ही देहात्मबुद्धि है। इस देहात्मबुद्धि के नष्ट होने पर ही सच्ची सफलता प्राप्त होती है।

भक्त—उसको निर्मूल करने का उपाय क्या है?

म—निद्रा में तुम देह और मन से मिले विना नहीं रहते? स्वप्न व जाग्रत अवस्थाओं में तुम उन दोनों से अभिन्न मिले रहते हो। यदि तुम शरीर ही हो, तो सुषुप्ति में शरीर के विना तुम्हारा अस्तित्व कैसे रह सकता है? तुमसे जो भिन्न है उससे तुम अलग हो सकते हो। तुमसे जो अभिन्न है उससे अलग कैसे रह सकते हो? इसलिये अहंता और शरीर एक नहीं हैं। जागृत अवस्था में ही इसका अच्छी तरह अनुभव करना चाहिये। इस अनुभव प्राप्ति के लिये ही तीनों अवस्थाओं का अनुसंधान किया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—जाग्रत-स्वप्न अवस्थाओं से संबंधित अहंता उस एक परम तत्व की प्राप्ति कैसे कर सकती है जिसमें तीनों समाये हुए हैं?

म—अहंता के विशुद्ध रूप का अनुभव दो अवस्थाओं जागृति-स्वप्न—या दो विचारों के बीच में मिल जाता हैं। अहंकार उस कीड़े के समान है जो एक आधार को ग्रहण करने के बाद ही दूसरे को छोड़ता है। जब वस्तु या विचार के संबन्ध से वह छूटता है तब उसका सच्चा स्वरूप प्रकट होता है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का अनुसंधान करने पर इन अवस्थाओं के बीच में उठनेवाले उस अवकाश को ही नित्य व निर्विकार तत्व समझना चाहिये।

भक्त—जैसे जागृत अवस्था में रहते हैं वैसे ही इच्छानुसार सुषुप्तावस्था में भी चाहे जितने समय नहीं रह सकते हैं? इन तीनों अवस्थाओं के सम्बंध में ज्ञानी के अनुभव कैसे हैं?

म—तुम्हारी जागृत-अवस्था में भी सुप्तावस्था रहती है। अब भी तुम सुषुप्तावस्था में ही हो। उसे जागृत अवस्था में ही चेतनापूर्वक सुषुप्तावस्था में प्रविष्ट होकर पाना चाहिये। वस्तुतः वह न तो उसमें प्रविष्ट होता है और न उसे छोड़ता है। जागृत-अवस्था में हीं सुषुप्ति का अनुभव करना जागृत-सुषुप्ति या समाधि अवस्था है।

अज्ञानी अधिक समय तक सुषुप्तावस्था में नहीं रह सकता। उसकी प्रकृति उसे उससे निकल आने के लिए विवश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करती है। उसकी अहंता मिटी नहीं है। वह बार-बार उठती रहती है। परन्तु ज्ञानी उसके मूल में हीं अहंकार का नाश कर डालता है। उसमें भी वह अहंकार मानों प्रारब्ध के कारण कभी-कभी उठता-सा भास हो सकता हैं। अर्थात् जैसे अज्ञानी के सम्बन्ध में प्रारब्ध अहंकार को स्थिर बिठाता है ऐसे दिखाई देता है, ऊपर से ज्ञानी के विषय में भी ऐसा दीख सकता है। पर इसमें मौलिक अंतर हैं। अज्ञानी का अहंकार जब प्रकट होता है तब सचमुच वह गहरी निद्रावस्था को छोड़ और किसी से दबा हुआ नही रहता। उस अवस्था में उसे अपने मूल स्रोत का भान ही नहीं रहता है। या यों कहें कि अज्ञानी स्वप्न और जागृत अवस्था में अपनी सुषुप्तावस्था का ज्ञान नहीं रखता। ज्ञानी के सम्बंध में तो अहंकार का ऊपर उठना केवल भास मात्र है; इस अहंकार के उठने या बने रहने के भास से ही ज्ञानी अपने लक्ष्य को मूल स्रोत पर लगाकर अपने अटूट व परम तुर्यातीत अनुभवों का नित्य रसास्वादन करता रहता है। यह अहंकार भयरहित है। वह जली रस्सी का अवशेष मात्र है। उसका रूप तो बना रहता है पर बांधने के काम की नहीं है। उद्भवस्थान पर ध्यान देते रहने से अहंकार उस मूल में इस प्रकार समा जाता है जैसे नमक का पुतला समुद्र में।

भक्त—सूली पर चढ़ाकर ईसा मसीह का वध किया गया था। इसका क्या महत्व है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—शरीर माने शूली और मनुष्य-पुत्र ईसा माने अहंभाव या देहात्म बुद्धि। मनुष्य-पुत्र जब शूली पर चढ़ाया जाता है तब अहंभाव नष्ट हो जाता है। जो बचता है वही पूर्ण ब्रह्म है। उसी प्रक्रिया को भव्य आत्मा का, भगवत्पुत्र ईसा का पुनरुत्थान कहते हैं।

भक्त—पर ईसा का वध न्यायसंगत कैसे माना जा सकता है? क्या मारना भयंकर पाप नहीं है?

म—यों तो संसार में प्रत्येक व्यक्ति आत्महत्या कर रहा है। अज्ञान में पड़कर हम अपनी शाश्वत, आनंदपूर्ण, स्वाभाविक स्थिति का नाश करते रहते हैं। इस तरह यह वर्तमान जीवन शाश्वत व यथार्थ जीवन के नाश पर टिका हुआ है। सचमुच यह क्या आत्महत्या नहीं है? तो फिर वध आदि की चिन्ता क्यों?

भक्त—श्रीरामकृष्ण परमहंस ने कहा है कि निर्विकल्प समाधि इक्कीस दिन से अधिक टिक नहीं सकती। यदि इसे बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। क्या यह सही है?

म—जब प्रारब्ध समाप्त हो जाता है तब अहंकार पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है, उसका कोई नामोनिशान रह नहीं जाता। यही निर्वाण है। प्रारब्ध के समाप्त न होने पर तो अहंकार फिर जागता है, जैसे जीवन-मुक्तों के जीवन में वह उठता-सा दिखाई पड़ सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७. आत्मानुभूति

भक्त—आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है?

म—आत्मानुभूति कोई बाहर की वस्तु नहीं कि उसकी पुनः प्राप्ति हो सके। वह तो पहले हीं से विद्यमान है। 'मैंने अभी आत्मानुभूति नहीं की, इस आशयवाले भाव को मन से निकाल देना चाहिये।

निश्चलता या शान्ति ही आत्मानुभूति है। एक पल भी ऐसा नहीं है जब आत्मा विद्यमान न हो। जब तक संदेह हो या 'मैंने नहीं जाना' का भाव बना रहता है तब तक वैसे संदेह या उस प्रकार के विचार को मन से निकाल देने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। आत्मा को अनात्मा समझने के कारण से ही वे विचार उठते हैं। जब अनात्मा का नाश हो जाता है तब केवल विशुद्ध आत्मा बची रहती है। स्थान देने के लिये वहाँ की भीड़ को हटाना आवश्यक है; जगह तो कहीं बाहर से लानी नहीं है।

भक्त—यदि वासनाक्षय के बिना आत्मानुभूति संभव न हो, तो प्राणी को इस जीवन में उस अवस्था की प्राप्ति कैसे हो सकती है जब कि उसकी वासनाएँ बिलकुल नष्ट न हुई हों?

म—उस अवस्था में तो तुम अब भी हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—क्या इसका यह मतलब है कि आत्मा में लीन रहते हुए वासनाएँ जैसे और जब उठें वैसे और तब उनका नाश करते रहना चाहिये?

म—तुम जैसे हो वैसे ही बने रहो तो भी वे अपने आप नष्ट हो जायेंगी।

भक्त—मैं आत्मा को कैसे पा सकता हूँ?

म—आत्मा को पाना ऐसा कुछ है ही नहीं। यदि पाने की बात होती तो उसका यह मतलब होता कि अब यहाँ वह नहीं है व उसे प्राप्त करना है। जिसकी नयी प्राप्ति होती है उसे खो भी सकते हैं। तब वह अनित्य ही होगा। जो अनित्य है उसके लिये प्रयत्न ही क्यों किया जाय? इसलिये मैं कहता हूँ कि आत्मा को पाना नहीं है। तुम ही आत्मा हो; तुम पहले ही से विद्यमान हो।

बात यह है कि तुम अपनी आनंदमय दशा से अपरिचित हो। बीच में अज्ञान आकर आनंदमय विशुद्ध आत्मा पर परदा डाल देता है। यह अज्ञानरूपी परदा जो कि मिथ्याज्ञान है उसे दूर करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। शरीर, मन आदि को 'आत्मा' मानते हो यहीं तुम्हारी भूल है। इसलिए मन से मिथ्या विचार को हटाना जरूरी है। ऐसा होने पर केवल आत्मा विलसित रहती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसलिये आत्मानुभूति सबके लिए है। आत्मज्ञान के सम्बन्ध में मुमुक्षुओं के बीच में कोई अंतर उत्पन्न नहीं होता। 'मैं कर सकूँगा?' यह संदेह और 'मैंने जाना नहीं' ये विचार ही विघ्न रूप हैं। इसलिए पहले इन विघ्नों से छूटने का प्रयत्न करो।

भक्त—समाधि का उपयोग क्या है? क्या वहाँ विचार-शक्ति रहती है?

म—समाधि एक ही सत्य का दर्शन करा सकती है। विचार सत्य के ऊपर परदा डाल देते हैं। इसलिये समाधि को छोड़कर अन्य स्थिति में सत्य का दर्शन नहीं हो सकता।

समाधि में केवल 'मैं हूँ' की भावना रहती है; दूसरे विचार होते ही नहीं। निश्चल रहना ही 'मैं हूँ' की अनुभूति है।

भक्त—यहाँ मुझे समाधि या निश्चलता की जो अनुभूति मिलती है उसे अन्यत्र कैसे पा सकता हूँ?

म—यहाँ तुम अपने को जिस वातावरण में पाते हो उसीके कारण तुम्हारी यह वर्तमन अनुभूति है। यह अनुभूति तुम इस वातावरण के बाहर भी पा सकते हो? तुम्हारी अनुभूति क्षणिक है। जब तक वह क़ायम न रहे तब तक उसे साधना आवश्यक है।

भक्त—जिसका अधिष्ठान जीवभावसे परे है और जिसके अंदर सब कुछ समाया हुआ है ऐसा भान जिसे होता है, ऐसे चैतन्य के स्पष्ट प्रकाश का अनुभव कई बार किसी विरले को ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता है। ज्ञान के सिद्धांतों को बाजू में रखकर, ऐसे दुर्लभ प्रकाश को प्राप्त करके टिकाये रखने व उसे उत्तरोत्तर बढाने के लिये भगवान मुझे कैसे उपाय की सलाह देते हैं? ऐसे अनुभव के अभ्यास में काम छोड़कर एकांतवास करना आवश्यक है?

म—'बाहर'? यह बाहर और भीतर किसके लिये है? जब तक कर्ता और कर्म है तभी तक ये सब टिक सकते हैं। और ये उभय भी किसके लिये हैं? खूब निरीक्षण करके देखोगे, तो मालूम हो जायगा कि ये दोनों कर्ता में समा जाते हैं। अब सोचो कर्ता कौन है? यह विचार तुमको कर्ता से भी परे जो शुद्ध चैतन्य है वहाँ पहुँचाता है।

जीवात्मा माने मन है। यह मन परिमित है। पर विशुद्ध चैतन्य सीमाओं से परे है और उसकी प्राप्ति उपर्युक्त प्रकार से अन्वेषण करने से होती है।

प्राप्त करना—आत्मा शाश्वत है। तुमको उसके दर्शन को अटकानेवाले परदे को हटाना चाहिये।

टिकाये रखना—एक बार यदि तुमको आत्मज्ञान हो जाय, तो वह तुम्हारे नित्य प्रत्यक्ष अनुभव का सीधा विषय हो जाता है। वह सदा बना रहेगा। उसे टिकाये रखने की बात ही नहीं उठती क्योंकि वह कभी गुम नहीं होता।

बढाना—आत्मा को बढ़ाना तो होता ही नहीं है। क्योंकि वह सदैव संकोच व विस्ताररहित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभ्यास—स्वाभाविक शान्ति में पड़नेवाली बाधाओं का निवारण ही अभ्यास है। तुम अभ्यास करो चाहे न करो स्वाभाविक स्थिति में सदा बने रहते हो। तुम जैसे हो वैसे रहकर प्रश्नरहित व शंकारहित बनकर रहना ही तुम्हारी स्वाभाविक दशा है।

एकांतवास—आत्मा की अनुभूति ही एकान्त है। आत्मा के लिये कोई वस्तु परायी नहीं है। एकांत के लिये एक स्थान या दशा से दूसरे स्थान या स्थिति में पहुँचना पड़ता है। आत्मा से भिन्न और कुछ है हीं नहीं। जब आत्मा ही सर्वत्र है तब एकांत असंभव और अकल्प्य है।

भक्त—समाधि की प्राप्ति के बाद क्या मनुष्य को सिद्धियों की भी प्राप्ति होती है?

म—सिद्धियों के प्रदर्शन के लिये उसे माननेवाले दर्शक की आवश्यकता होती है। अर्थात् सिद्धियों के प्रदर्शक में ज्ञान नहीं होता है। इसलिए सिद्धि का विचार करना ही अनुचित है। केवल ज्ञान हमारा लक्ष्य है। उसीको प्राप्त करना है।

भक्त—क्या मेरे आत्मज्ञान से दूसरों को लाभ मिल सकता है?

म—अवश्य। सचमुच यही सबसे बड़ी सेवा है जो तुम दूसरों की कर सकोगे। जिन महानुभावों ने जब कभी सत्य का दर्शन किया उनको अपनी आत्मा की प्रशांत गहराई में से ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिला हैं। पर वस्तुतः उस स्थिति में दूसरे कोई सहायक नहीं हैं। जैसे सोनार भिन्न-भिन्न गहनों की कीमत लगाने केवल सोने को कसकर देखता है वैसे ही सिद्ध पुरुष केवल आत्मा को देखता है। जब तुम अपने को शरीर मानते हो तभी नाम, रूप तुम्हारे सामने आते हैं। जब तुम देहभाव से आगे बढ़ जाओगे तब 'दूसरे' भी लुप्त हो जायेंगे। ज्ञानी पुरुष जगत को अपने से भिन्न नहीं देखता है।

भक्त—साधु-संतपुरुष साधारण जनता के बीच में मिल-जुलकर रहें, तो विशेष अच्छा नहीं होगा?

म—दूसरे कहाँ हैं कि उनसे मिल-जुलकर रहें? आत्मा ही साथ है।

भक्त—क्या दुखी जगत की सेवा नहीं करनी चाहिये?

म—तुमको जिसने पैदा किया उसीने जगत् की भी सृष्टि की। यदि वह सृष्टिकर्ता तुम्हारी रक्षा कर सकता है तो जगत् की भी रक्षा कर सकता है। यदि ईश्वर जगत् के सृष्टि-कर्ता हैं तो उसकी रक्षा करना भी उनका काम है, तुम्हारा नहीं।

भक्त—देशभक्त होना हमारा कर्तव्य नहीं है?

म—तुम्हारा कर्तव्य यह या वह बनना नहीं पर तुम्हारे मूल स्वरूप के अनुसार बनना है। केवल 'अस्मिता' 'हूँ' में सब समा गया है। 'स्थिर रहो' यही उसका सार है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निश्चलता का अर्थ क्या है? वह है अपनेपन का नाश करो। नाम और रूप ही सारे दुखों का कारण हैं। 'मैं-मैं' आत्मा है। 'मैं यह हूँ' यह अहंकार है। जब 'मैं' का प्रतिपादन केवल 'मैं' रूप में होता है तब वह आत्मा है। जब वह स्वरूप को छोड़कर इधर उधर दौड़धूप करता है 'मैं यह हूँ, वह हूँ, मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ' तब वह अहंकार है।

भक्त—तो फिर ईश्वर कौन हैं?

म—आत्मा ही ईश्वर है। 'मैं हूँ' यह ईश्वर हैं। यदि ईश्वर आत्मा से भिन्न हो, तो वह आत्मा-रहित ईश्वर होगा। वह मूर्खता की बात है।

आत्मा की प्राप्ति के लिये केवल निश्चल बनना आवश्यक है। इससे आसान क्या हो सकता है? इसलिये आत्म-विद्या की प्राप्ति बहुत ही सुलभ कही गयी है।

---

8. गुरु और गुरु-कृपा

भक्त—गुरुकृपा क्या है? उससे आत्मज्ञान कैसे होता है?

म—आत्मा ही गुरु है। कभी-कभी मनुष्य अपने जीवन से असंतुष्ट हो जाता हैं; उसके पास जो कुछ होता है, उससे संतुष्ट न होकर भगवत्प्रार्थना-पूजा आदि द्वारा वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता हैं। धीरे-धीरे उसका मन शुद्ध होने लगता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और अंत में वह ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है कि वह अपनी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के बदले केवल भगवत्कृपा पाने के लिये, उनके दर्शन करने के लिये झाँकता रहता है। तब भगवान की कृपा का दर्शन होने लगता है। तब भगवान गुरु का रूप धारण कर भक्त को दर्शन देकर सत्य का बोध कराते हैं और सत्संग द्वारा उसके मन को विशुद्ध बनाते हैं। तब भक्त का मन बलवान होकर अंतर्मुख होने की शक्ति प्राप्त करता है। ध्यान द्वारा वह मन को और भी शुद्ध बनाता है और तरंगविहीन निश्चल बन जाता है। यह शांति-विस्तार ही आत्मा है।

गुरु आन्तरिक व वाह्य दोनों प्रकार के होते हैं। बाहर से वे मन को अंतर्मुख बनाने के लिए धक्का मारते हैं। अंदर से वे मन को आत्मा की ओर खींचकर उसे शान्त होने में सहारा देते हैं। यही गुरुकृपा है। इस प्रकार से ईश्वर, गुरु और आत्मा में कोई अंतर नहीं है।

भक्त—थियोसाफ़िकल सोसाइटी में लोग मार्गदर्शन करने-वाले गुरुओं की प्राप्ति के लिये ध्यान करते हैं।

म—गुरु अंदर ही हैं। वे बाहर हैं, इस भ्रम को दूर करने के लिये ही ध्यान किया जाता है। यदि तुम किसी अनजान गुरु की प्रतीक्षा करते रहो, तो वे अवश्य ही अदृश्य हो जायेंगे। जीवन विकास में ऐसे अनित्य व्यक्ति का क्या उपयोग? पर जब तक तुम यह समझते हो कि तुम गुरु से अलग हो, अथवा शरीर ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मा है तब तक 'बाह्य' गुरु की आवश्यकता बनी रहेगी और वह गुरु सशरीर दर्शन देंगे। ज्यों ही तुम्हारा अपने आपको शरीर मानने का मिथ्या भ्रम दूर हो जायगा त्यों ही मालूम हो जायगा कि आत्मा के सिवाय कोई गुरु नहीं हैं।

भक्त—क्या गुरु दीक्षा आदि द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त कराने में हमें सहायता दे सकेंगे?

म—क्या गुरु तुम्हारा हाथ पकड़कर तुम्हारे कान में कोई मंत्र फूकेंगे? तुम स्वयं जैसे हो वैसे ही गुरु की कल्पना करते हो। तुम्हारे शरीर है। इसलिए तुम समझते हो कि उनके भी शरीर है जिससे तुम्हारे लिए वे कोई स्पृश्य काम कर दिखलायेंगे। उनका काम तो अंदर आध्यत्मिक प्रदेश में है।

भक्त—गुरु कैसे मिल सकते हैं?

म—ईश्वर अंतर्यामी हैं। वे अपनी अपार कृपा द्वारा प्रेमी भक्त पर दया करते हैं और उस भक्त के विकास के अनुसार उसे दर्शन देते हैं। पर भक्त उनको एक मनुष्य समझता है और वह दो भौतिक देहों के बीच के संबंध की आशा रखता है। पर गुरु तो ईश्वर या आत्मा हैं। वे अंदर से काम करते हैं। भक्त को उसकी भूलें समझाने में मूर्तिमान सहायक बनते हैं और वह हृदयस्थ आत्मा का साक्षात्कार कर सके तब उसे सत्य मार्ग पर चलाते रहते हैं।

भक्त—तो फिर भक्त को क्या करना चाहिये?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—उसको तो सतत गुरु के वचनों का पालन करते हुए अपने अंदर काम करते रहना है। वैसे गुरु बाहर व अंदर भी हैं और वे कभी कभी ऐसे संयोग भी पैदा करते हैं कि तुम अन्तर्मुखी बनो; साथ ही अंदर के प्रदेश की ऐसी तैयारी करते हैं कि तुम हृदय-केंद्र में खींचे जा सको। इस तरह वे बाहर से धक्का देते हैं और भीतर से खींचते हैं जिससे तुम हृदय-केन्द्र में दृढ़ बन जाओ।

तुम ऐसा समझते हो कि तुम अपने प्रयत्न से जगत को जीत सकते हो। जब तुम बाहर से निराश हो और ऐसी परिस्थिति में अन्दर की ओर घसीटे जाते हो तब तुम ऐसा समझने लगते हो कि मनुष्य से बढ़ कर दूसरी कोई महान शक्ति भी है।

अहंकार एक प्रबल हाथी के समान है। उसे काबू में लाना सिंह से कम शक्तिवाले के वश की बात नहीं है। इस उदाहरण में गुरु ही वह सिंह है, जिसकी दृष्टि मात्र से हाथी जैसा अहंकार थरथर कांपने लगता है और अंत में वह मर भी जाता है।

तुमको यथासमय अनुभव होगा कि तुम्हारे व्यक्तित्व के विनाश में ही तुम्हारा गौरव है। ऐसी स्थिति में पहुँचने के लिये तुम्हें आत्मसमर्पण करना चाहिये। आत्मसमर्पण के बाद गुरु को जब विश्वास होता है कि तुम मार्गदर्शन ग्रहण करने योग्य अवस्था में पहुँच गये हो तब वे तुम्हें सन्मार्ग पर चलाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—जो गुरु दीक्षा न दें या दूसरा कोई स्पर्शनीय काम न करें उनके मौन को उनके वचन इत्यादि से अधिक समर्थ कैसे माना जाय? शास्त्रों के अभ्यास से भी ऐसा मौन कैसे अधिक महत्व रखता है?

म—मनुष्य को कर्म की ओर प्रवृत्त कराने में मौन अत्यंत शक्ति पूर्ण होने से साक्षात् ईश्वर है। शास्त्र चाहे जितने विशाल व प्रभावशाली हों तो भी वे परिणाम लाने में निष्फल होते हैं। गुरु मौनी होते हैं और उनकी कृपा सबमें व्याप्त है। संसार भर के समस्त शास्त्रों को एकत्रित करने पर भी मौन उन सब से अधिक विशाल व प्रभावशाली होता हैं।

भक्त—क्या भक्त परमानंद दशा को प्राप्त कर सकता है?

म—भक्त गुरु की शरण लेता है इसका अर्थ यह है कि उस समय उसमें उसके व्यक्तित्व का लेशमात्र भी अंश नहीं रहता। यदि शरणागति, स्वार्पण सम्पूर्ण हो तो अहंता की सारी भावना नष्ट हो जाती है। उसके बाद दुख या खेद रह ही नहीं सकता।

नित्य पुरुष परमानंद के सिवाय और कुछ नहीं है। यह अपने आप खिलता है।

भक्त—मैं कैसे वह कृपा पा सकता हूँ?

म—आत्मा ही वह कृपा है। वह दूसरी जगह से प्राप्त करने की वस्तु नहीं होती। तुम्हें तो इतना ही जानना है कि वह विद्यमान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सूर्य केवल प्रकाश है। वह अंधकार को नहीं देखता। फिर भी हम सूर्य के निकलने पर अंधकार के भाग जाने कीं बात कहते हैं। वैसे ही भक्त का अज्ञान भी अंधकार के भूतों की तरह गुरु के कृपा-कटाक्ष से एक क्षण मात्र में पलायन कर जाता है। तुम्हारे आस-पास सूर्य का प्रकाश है; फिर भी यदि तुम सूर्य को देखना चाहते हो तों तुम्हें उसकी ओर मुड़कर उसके सामने देखना पड़ता है। वैसे ही कृपा भी सर्वत्र व्याप्त है फिर भी उसे पाने के लिये उचित मार्ग का ग्रहण करना चाहिये।

भक्त—मुमुक्षु को परिपक्वता शीघ्र पाने के लिए गुरु-कृपा उपयोगी होगी या नहीं?

म—यह सब काम तुम गुरु पर छोड़ दो। सबसे पहले तुम सम्पूर्ण तथा निःसंकोच अपना आत्म समर्पण कर दो।

दो बातों में से एक को जरूर करो: कमजोरी मानकर किसी एक महत्तर शक्ति का सहारा आवश्यक समझकर या तों उसकी शरण में जाओ या दुखों के मूल कारण को ढूँढो उसके मूल तक पहुँचो व आत्मा में तल्लीन हो जाओ। इन दोनों में से किसी एक मार्ग को अपनाने पर दुखों से मुक्त हो सकोगे। शरण लेनेवाले भक्त को गुरु या ईश्वर कभी नहीं छोड़ते।

भक्त—गुरु या ईश्वर के सम्मुख साष्टांग नमस्कार करने का महत्त्व क्या है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—साष्टांग नमस्कार अहंकार के नाश का सूचक है और उसका अर्थ है मूल परमात्म तत्व में मिल जाना। बाहरी वंदना या नमस्कार से ईश्वर या गुरु को धोखा नहीं दिया जा सकता। वे पहले हमारी परीक्षा कर देखते हैं कि अभी इसमें अहंकार का अस्तित्व है या चला गया।

भक्त—अपनी कृपा के चिह्न स्वरूप भगवान अपने पत्र में से क्या थोड़ा-सा प्रसाद भी नहीं देंगे?

म—जो कुछ खाओ उसे 'अहं' भाव के ख्याल के बिना खाओ। ऐसी परिस्थिति में तुम जो कुछ खाओगे वह भगवान का प्रसाद ही बन जायगा।

भक्त—पढ़े-लिखे मनुष्य को गुरु-कृपा की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए ज्ञान प्राप्ति के लिये वे अधिक योग्य नहीं हैं?

म—पढ़े-लिखे मनुष्य को भी अपढ़ ऋषि के सामने नमस्कार करना चाहिए। यदि निरक्षरता अज्ञान है तो शिक्षण भी साक्षारतायुक्त अज्ञान है। क्योंकि दोनों सच्चे हेतु के विषय में अनभिज्ञ हैं। ऋषि दूसरे प्रकार के अज्ञानी होते हैं। क्योंकि उनके सामने कोई 'दूसरा' नहीं होता।

भक्त—गुरु को जो भेंट दी जाती है क्या वह उनकी कृपा-प्राप्ति के लिये नहीं होती? इसी उद्देश्य से आपकी सेवा में भी बहुत-सी चीजें लाकर रखी जाती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—वे उपहार लाते ही क्यों हैं? क्या मुझे इन वस्तुओं की कोई आवश्यकता है? मैं मना करता रहता हूँ, तब भी वे बराबर लाते ही रहते हैं। क्यों? क्या यह मछली को पकड़ने के लिये कंटियों में भर दी जानेवाली खुराक के समान तो नहीं है? मछुआ वास्तव में मछली को खूब खिलाने के लिए आतुर नहीं होता है। वह तो मछली को पकड़कर खा जाने के लिए सदैव आतुर रहता है।

भक्त—थियोसाफिकल सोसाइटीवालों के मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व क्रमानुसार दीक्षा-ग्रहण में क्या महत्व है?

म—जो एक ही जन्म में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं उन्होंने अपने पूर्व जन्मों में इन सभी दीक्षा क्रमों को पारकर दिया होगा।

भक्त—थियोसफी में कहा जाता है कि ज्ञानी को विदेह हो जाने के बाद भी चार पांच प्रकार के कार्य अपनाकर करने पड़ते हैं। वे कार्य इहलोक में या परलोक में भी हो सकते हैं। इसमें भगवान की क्या राय है?

म—कुछ विरले ही आधिकारिक ज्ञानी ऐसे विशिष्ट काम करते हैं, सभी नहीं।

भक्त—आपको क्या कुछ ऐसे ऋषियों के भ्रातृ-मंडलों का परिचय है जो अदृश्य रहकर लोक कल्याण का कार्य करते रहते हैं?

म—यदि वे अदृश्य है तो उन्हें देखा कैसे जा सकता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—ज्ञान-दृष्टि में।

म—ज्ञान-दृष्टि में ज्ञान को छोड़कर और कुछ होता ही नहीं है।

भक्त—क्या मैं उनका साक्षात्कार कर जान सकता हूँ?

म—यदि तुम अपना सत्य रूप प्राप्त कर लो, तो उन्हें ऋषियों और ज्ञानियों का सच्चा रूप भी मालूम हो जायगा। ज्ञानी, गुरु केवल एक ही हैं और वे स्वयं आत्मा हैं।

भक्त—क्या पुनर्जन्म सत्य है?

म—जब तक अज्ञान रहता है तभी तक पुनर्जन्म का अस्तित्व बना रहता है। सचमुच पुनर्जन्म है ही नहीं। न वह पहले था, न अभी है और न आगे होगा। यही सत्य है।

भक्त—क्या योगी अपने पूर्वजन्म की बातें जान सकते हैं?

म—तुम अपने वर्तमान जन्म के विषय में क्या जानते हो कि जो पूर्व जन्म के विषय में जानना चाहते हो? वर्तमान को ढूँढ निकालो तो बाकी अपने आप ही मालूम हो जायगा। जब अपने वर्तमान के सीमित ज्ञान को लेकर तुम इतना दुःख सह रहे हो तो फिर और अधिक ज्ञान का बोझ क्यों ढोना चाहते हो? और भी दुःख सहने?

भक्त—भगवान किसी योग शक्ति का उपयोग करते हैं जिससे दूसरे भक्त लोग आत्मज्ञानी बन सकें, या भगवान का साक्षात्कार ही वह काम कर देता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—आत्मानुभूति की आध्यात्मिक शक्ति दुनिया-भर की योगशक्ति के उपयोग की अपेक्षा भी अधिक प्रबल है। ऋषि अहंकार रहित होते हैं। इसलिये उनको उनसे भिन्न दूसरे कोई नहीं हैं। उनका ऐसा कौन-सा सर्वोत्कृष्ट लाभ है जो तुमको दिया जा सकता है? उनके पास तो केवल आनंद है जो शान्ति से उत्पन्न होता है। शान्ति वहीं टिक सकती है जहाँ चंचलता न हो। चंचलता मनमें उठने वाले विचारों के कारण होती है। जब मन नष्ट हो जाता है तब पूर्ण शान्ती विराजती रहती है। जब तक मनुष्य मन का विलय नहीं कर सकता तब तक वह शान्ति और सुख पा नहीं सकता। यदि वह स्वयं सुखी न हो, तो फिर 'दूसरों' को वह सुख कैसे दे सकता है? जिन ऋषियों ने मनोनाश कर लिया है उनकी दृष्टि में कोई दूसरा नहीं होता। इसलिये उनकी आत्मानुभूति ही दूसरों को सुखी करने के लिये पर्याप्त है।

9. शान्ति और सुख

भक्त—मैं और किस प्रकार से शान्ति पा सकता हूँ? मालूम होता है कि केवल आत्म-विचार द्वारा मैं शांति पा न सकूंगा।

म—शान्ति तुम्हारी सहज स्थिति है। इस सहज स्थिति में बाधा डालनेवाला मन है। 'विचार' तुम्हारे मन से ही उत्पन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता है। यदि उसकी ठीक ठीक शोध हो कि मन क्या चीज़ है तो वह अदृश्य हो जायगा। विचार से भिन्न मन जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। फिर भी विचार के उत्पन्न होने पर तुम उसके उद्गम स्थान की कल्पना करके उसे मन कहते हो। लेकिन जब तुम तल्लीन होकर उसका अनुसंधान करने लगोगे तो तुम्हें पता लगेगा कि असल में मन जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। जब मन इस तरह नष्ट हो जायगा तब शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकोगे।

भक्त—काव्य, संगीत, जप, भजन, सुंदर प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन और आध्यात्मिक श्लोकों के पठन आदि द्वारा कभी कभी सर्वव्याप्त एकता की सच्ची अनुभूति हुआ करती है। उस गहरी आनंदपूर्ण शान्ति की अनुभूति (जिसमें जीवात्मा को कोई स्थान नहीं है) 'हृदय-प्रवेश' की भगवान जो चर्चा किया करते हैं उसकी जैसी है या कुछ भिन्न? इस अभ्यास को चालू रखा जाय तो क्या उस गहरी समाधि में पहुँच सकेंगे जिससे कि अंत में उस सद्वस्तु का दर्शन हो सके?

म—जब मन के सामने उसकी प्रिय वस्तुएँ आती हैं तब उसे सुख मिलता है। यह आनंद आत्मा के लिये स्वाभाविक है। उससे भिन्न उसके लिए कोई दूसरा आनंद नहीं हो सकता। वह न बाहर है, न दूर। जिसे जब तुम सुखदायक मानते हो उस समय ऐसे प्रसंगों में तुम आत्मा में निमज्जन करते हो। उन प्रसंगों के इस मज्जन के कारण तुमको आत्मगत आनंद मिलता है। पर तुम्हारे मन में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उठनेवाले विचारों के कारण तुमको वह आनंद दूसरी वस्तुओं या घटनाओं में दीखता हैं। सचमुच वह आनंद तुम्हारे अंदर हीं है। इस प्रसंग में तुम अनजान होकर आत्मा में हीं डुबकी मारते हो। एक मात्र सत्य स्वरूप आत्मा जो वास्तव में आनंद है वह और तुम एक ही हो, ऐसे अनुभव से उत्पन्न श्रद्धा और ज्ञान के साथ यदि तुम डुबकी मारो तो तुम उसे आत्मप्राप्ति कह सकते हो। मैं चाहता हूँ कि तुम आत्मा में अर्थात् हृदय में ज्ञानपूर्वक डुबकी मारो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीरमण वाणी-भाग 2

1. आत्मविचार

भक्त—कोई अपनी आत्मा को कैसे पहचाने?

महर्षि—तुम किसकी आत्मा शोधना चाहते हो।

भक्त—मेरी ही तो, लेकिन मैं हूँ कौन?

म—इसका तुम स्वयं ही पता लगा लो।

भक्त—मैं नहीं जानता तो पता कैसे लगाऊँ?

म—थोड़ा इस प्रश्न का चिन्तन तो करो। 'मैं नहीं जानता' यह कहनेवाला कौन है? तुम जो नहीं जानते वह क्या है और जो जाना नहीं जाता वह भी क्या है?

भक्त—(हँसकर) मेरे अंदर जो है वही; कौन और क्या इसे मैं नहीं जानता।

म—'कौन' वह कहनेवाला कौन है? और फिर वह 'कौन' किसके अंदर है?

भक्त—शायद कोई शक्ति हो या फिर दूसरा ही कुछ हो।

म—और भी पता लगाओ।

भक्त—मैं क्यों पैदा हुआ?

म—कौन पैदा हुआ? तुम्हारे सभी प्रश्नों का यही जवाब है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—यदि आपके कथनानुसार ऐसा ही हो तो भी मेरी जिज्ञासा है कि मैं कौन हूँ?

म—(मुस्कुराते हुए) भाई, क्या मेरी परीक्षा लेने आये हो? यह बात तो तुम्हें ही बतलानी होगी कि तुम कौन हो।

भक्त—मैं बहुत प्रयत्न करता हूँ फिर भी उस 'मैं' का पता ही नहीं लगता। वह ऐसा है या वैसा, यह भी बहुत प्रयत्न करने पर भी दिखलाई नहीं पड़ता।

म—वह कौन है जो कहता है कि 'मैं' दीखता ही नहीं है? क्या तुम्हारे अंदर 'मैं' दो हैं जिसमें कि एक 'मैं' को न जाननेवाला दूसरा 'मैं' भी है?

भक्त—'मैं कौन हूँ' इस विचार के बदले में 'आप कौन हैं?' यह प्रश्न पूछूँ? उस स्थिति में मेरी समग्र दृष्टि आप पर स्थित होगी। मैं आपको गुरु के रूप में प्रत्यक्ष भगवान मानता हूँ। 'मैं कौन हूँ' के बदले इस नयी विचारणा द्वारा संभवतः मैं अपने लक्ष्य के पास शीघ्र पहुँच सकूँगा।

म—तुम्हारे प्रश्न का चाहे जो रूप हो तुम्हें तो अंत में आत्मा का जो एक मात्र 'मैं' है उसीकी प्राप्ति करनी है।

यह जो 'मैं' और 'तुम' अथवा 'गुरु' और 'शिष्य' का अंतर है वह सब हमारे अज्ञान का चिह्न है। वह मात्र एकमेव अहंस्वरूप परमात्मा है। इसके सिवाय दूसरी भावना केवल भ्रम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही है। इस विषय में ऋभु मुनि और उनके शिष्य निदाघ की पौराणिक कहानी बहुत ही बोधप्रद है।

यद्यपि ऋभु ने अपने शिष्य निदाघ को एक मात्र अद्वितीय ब्रह्म का बोध कराया था तो भी निदाघ ज्ञानमार्ग का अवलंबन कर उसके अनुसार आचरण करने योग्य दृढ़ निश्चय प्राप्त नहीं कर सका था। उसमें उतना विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ था। वह अपने ही गाँव में रह कर कर्मकांडी का जीवन बिताने लगा।

गुरु पर शिष्य का कम पूज्यभाव नहीं था और शिष्य पर गुरु का भी कम प्रेम नहीं था। वयोवृद्ध होने पर भी ऋभु समय-समय पर उसके यहाँ जाकर उसे देख लिया करते थे कि शिष्य कर्मकाण्ड के मार्ग से कहाँ तक आगे बढ़ा है। कभी-कभी वे वेष बदलकर भी जाया करते थे जिससे कि उन्हें निदाघ के दैनिक आचरण का सच्चा पता उनकी अनुपस्थिति में लग सके।

ऐसे ही एक समय ऋभु गँवार का रूप बनाकर निदाघ के यहाँ जा पहुँचे। उस समय निदाघ बड़ी तत्परता के साथ राजा का जुलूस देख रहा था। गँवार ने निदाघ से पूछा— 'यह धमाल किसलिए है?' उस ने गुरु को नहीं पहचाना व उन्हें गँवार ही समझकर उपेक्षा पूर्वक कहने लगा? 'देखते नहीं हो, राजा का जुलूस है?' गँवार ने पूछाः "महाराजा का जुलूस तो जा रहा है? पर आप श्रीमान कहाँ हैं?"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निदाघ ने जवाब दिया—"उधर देखो हाथी पर।"

गँवार—"अच्छा, हाथी पर राजा हैं। ठीक, ठीक; मुझे दो दीखते हैं। इनमें राजा कौन हैं और हाथी कौन है?"

निदाघ—"कैसा गँवार है, तू! दो को तो देखता है पर यह नहीं जानता कि ऊपर आसीन मनुष्य राजा हैं और नीचे का जानवर हाथी है! तेरे जैसे आदमियों से तो बोलना भी व्यर्थ है।"

गँवार—"मेरे जैसे अज्ञानी से क्रोधित मत होइये आप। पर अभी जो 'ऊपर, नीचे' कहा, उसका क्या मतलब है, क्या इसे आप बराबर समझावेंगे?

अब निदाघ आपे से बाहर होकर बोला "तू राजा और हाथी को देखता है और यह भी देखता है कि एक ऊपर है और दूसरा नीचे। फिर भी पूछ रहा है कि 'ऊपर' क्या हैं और 'नीचे' क्या है? यदि देखी हुई वस्तु व बताये हुए शब्दों का भी तुझ पर कोई असर ही नहीं पड़ता तो अब तुझे दूसरी तरह से प्रत्यक्ष सिखाना होगा। इसलिए अब तू जरा नीचे झुक जा और मैं तुझे समझाता हूँ। तभी तू समझेगा।"

गँवार झुक गया। निदाघ उस पर चढ़ बैठा और बोला: "ले अब सीख, मैं 'ऊपर' हूँ इसे इस प्रकार समझ ले कि मैं महाराजा हूँ और तू 'नीचे' है तो समझ ले कि तू ही हाथी है। अब आयी बात समझ में?"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गँवार ने कहा—'ना भैया! तू कहता है कि तू ऊपर राजा होकर बैठा है और मैं नीचे हाथी जैसा खड़ा हूँ। 'राजा' और 'हाथी', 'ऊपर' और 'नीचे' इतना तो मैं समझ पाया हूँ। जरा यह तो बता कि 'मैं' क्या हैं और 'तू' क्या है?

जब 'मैं' से भिन्न 'तुम' की व्याख्या करने का महान् प्रश्न उसके सामने प्रत्यक्ष उपस्थित हुआ तब निदाघ की आँखें एकदम खुल गयीं और वह फौरन गँवार की पीठ से कूद पड़ा और उनके चरणों में गिरकर गिड़गिड़ा कर कहने लगा: "आप तो मेरे परम गुरु ऋभु महाराज हैं। इस संसार में और कौन हैं कि जो इस भौतिक जीवन से मेरे मन को इस प्रकार बाहर खींचकर सद्वस्तु विवेक की ओर प्रेरित करे? दयामय गुरु महाराज! आपसे आशीर्वाद चाहता हूँ। मेरा उद्धार कीजिये।"

मतलब यह है कि आत्मविचार द्वारा यदि इस भौतिक जीवन से ऊपर उठना हो तो स्थूल शरीर से संबंध रखनेवाले 'तू' और 'मैं' के बीच के भेद को मिटाना होगा। यदि तुम विचार-मात्र के मूल की ओर अपने मन को अंतर्मुख कर डालो तो 'तू' कहाँ और 'मैं' कहाँ? इस प्रश्न का उत्तर अपने आप मिल जायगा। इस प्रकार अनुसंधान करते करते जिसके अंदर सभी समा जाते हैं ऐसी आत्मा में तुमको दृढ़ होना चाहिये।

भक्त—पर क्या यह बड़ी हँसी की बात नहीं है कि हम 'मैं' 'मैं' को ही खोजते रहें? "मैं कौन हूँ" की विचारणा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंत में एक सूत्र जैसी ही मालूम नहीं होती है? अथवा क्या 'मैं कौन हूँ' को दोहराते हुए मैं अनंत काल तक अपने आप से पूछता ही रहूँ?"

म—आत्मविचार निरा सूत्र नहीं है। वह मंत्रोच्चारण तथा जप से भी श्रेष्ठ है। यदि "मैं कौन हूँ" वाली विचारणा मानसिक प्रश्न परंपरा ही हो तो उसकी कोई अधिक विशेषता नहीं रहेगी। आत्म-विचार का मूल आशय ही समग्र मन को उसके मूल स्थान में एकाग्र करना है। इसलिए एक "मैं" के दूसरे "मैं" की खोज में जाने की बात ही नहीं है।

आत्मविचार नया सूत्र नहीं है। क्योंकि वस्तुतः वह मन को समग्र शुद्ध आत्मजाग्रति में स्थिर करने का निदिध्यास ही है।

तुम जो शुद्ध परिपूर्ण सद्वस्तु तत्व हो उसका साक्षात्कार करने के लिये आत्मविचार ही एकमात्र रामवाण साधना है।

भक्त—आत्मविचार को ही ज्ञान की प्रत्यक्ष साधना क्यों माना जाय?

म—क्योंकि आत्मविचार के सिवा अन्य सब साधनाओं में मन को टिकाये रखना पड़ता है और मन की स्थिरता के बिना उसका अभ्यास हो ही नहीं सकता। साधना की भिन्न भिन्न स्थितियों में अहंकार विभिन्न सूक्ष्म रूप धारण करता रहता है पर वह कभी निर्मूल नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जनक महाराज ने जब यह कहा कि "इतने लंबे समय तक मेरा सत्यानाश करनेवाले चोर को मैंने पकड़ लिया है। अब इसे मैं मार डालूँगा" तब सचमुच वे अहंकार या मन को ही चोर कह रहे थे।

भक्त—परंतु क्या दूसरी साधनाओं द्वारा उस चोर को पकड़ नहीं सकते?

म—आत्मविचार को छोड़कर अन्य साधनाओं द्वारा अहंकार या मन को नष्ट करने का प्रयत्न वैसा ही है जैसा चोर का कोतवाल बनकर चोर को अर्थात् अपने आप को पकड़ने जाना। सचमुच अहंकार या मन का स्वतंत्र अस्थित्व नहीं है। इस सत्य का दर्शन करानेवाला एकमात्र आत्मविचार ही साधक को आत्मा के शुद्ध चैतन्य की कैवल्य दशा का साक्षात्कार करा सकता है।

आत्मप्राप्ति होने के बाद प्राप्त करने के लिये और कुछ अवशिष्ट रह ही नहीं जाता। क्योंकि वही पूर्णानंद दशा है, वही सर्वस्व भी है।

भक्त—उपाधियों से पूर्ण इस जीवन में मैं क्या कभी पूर्णानंद प्राप्त कर सकता हूँ?

म—यदि श्रद्धा के साथ प्रयत्न करो, तो तुमको यह अनुभव होगा कि पूर्णानंद तो तुम्हारा स्वागत करने के लिये सदा तैयार ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवन में तुम्हारे दुखों का कारण बाह्य जगत नहीं है। वह अहंकार के रूप में तुम्हारे अंदर ही रहा हुआ है। तुम स्वयं अपने पर उपाधियाँ लादते रहते हो और फिर उनसे छूटने का व्यर्थ प्रयास करते हो। सभी दुखों का कारण अहंकार है। उसीसे सभी आपदाएँ बढ़ती रहती हैं। सब दुखों का मूल तुम्हारे ही अंदर है, तब उसको जीवन की घटनाओं में बताने से क्या फ़ायदा है? फिर तुमसे भिन्न इन बाह्य वस्तुओं से तुम्हें कौन-सा सुख मिल सकेगा? यदि उनसे कदाचित मिल भी गया तो वह कब तक टिकेगा?

यदि तुम अहंकार का नाश कर दो, उसको जला डालो, तो तुम मुक्त हो जाओगे। यदि तुम उसे जगह दोगे, तो वह विघ्न बाधाएँ उत्पन्न करेगा और फिर तुम्हें उनसे छूटने के लिए व्यर्थ प्रयत्न में लगे रहना होगा। राजा जनक का चोर इसी तरह उनका 'सत्यानाश' करना चाहता था।

जो तुम्हारा सत्य स्वरूप है उसमें स्थिर रहना अर्थात् आत्मनिष्ठ होना यही तुम्हारा सहज-सुख प्राप्त करने का एकमात्र साधन है।

भक्त—केवल आत्मा ही सत्य है, इसे तो मैंने अभी नहीं जाना। इसलिए साधना के लिए विचारमार्ग की अपेक्षा क्या भक्ति और योगमार्ग का अवलंबन मेरे लिए अधिक उपयोगी व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुकूल नहीं होगा? क्या मेरे जैसे सामान्य मनुष्य के लिये ब्रह्मज्ञान दुर्लभ नहीं है?

म—ब्रह्मज्ञान कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है कि जिसे पाने के बाद साधक आनंद का अनुभव कर सके। साधक के लिए आवश्वक है अज्ञान को दूर करना। जिस आत्मा को तुम खोज रहे हो वह तुम स्वयं ही हो। तुम्हारा कल्पित अज्ञान ही तुमको अनावश्यक दुख देता रहता है, जैसे कभी न खोये अपने साथी को, दस मूर्खों ने अपने को छोड़कर अवशिष्ट व्यक्तियों को गिनकर जब केवल नौ कों ही पाया तब दसों ने माना कि दसवाँ खो गया है। यहाँ भी कुछ वैसा ही कल्पित अज्ञान है।

कथा ऐसी है; एक बार दस मूर्खों को नदी पार करनी पड़ी। जब वे सामने के किनारे पर पहुँच गये तब वे यह जानना चाहते थे कि हम सब सही सलामत तो पहुँच गये। पहले एक आदमी गिनने लगा। उसने अपने को छोड़कर बाकी सब को गिना तो केवल नौ को पाया। उसने कहा: "मैं तो केवल नौ को ही देखता हूँ। हम में एक अवश्य ही खो गया। वह कौन है?" दूसरे ने कहा: "क्या तुमने ठीक ठीक गिना?" फिर वह खुद गिनने लगा और उसको भी केवल नौ ही दिखायी पड़े। इस तरह दसों ने गिना और दसों ने गिनने में अपने आप को छोड़ दिया, इसलिये नौ को ही पाया। अब सब लोग इस बात पर तो सहमत हो गये कि वे केवल नौ ही रह गये हैं। पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रश्न यह था कि वह खोया हुआ दसवाँ कौन है? उसका पता लगाने में वे सभी असफल रहे। उनमें से एक ने कहा: "वह चाहे जो हो एक दसवाँ तो अवश्य ही गुम हो गया।" वह यह कहकर रोने लगा तब बाकी सभी भी रोने लगे।

तब उस रास्ते से एक दयालु यात्री जा रहा था। इन लोगों को रोते देख उसने इन लोगों के पास आकर पूछा कि क्या बात है? उन लोगों ने सारा किस्सा सुनाया और कहा: "जब हम निकले तब दस थे। पर अब कई बार हम में से हर एक ने अलग अलग गिनकर देखा तो हम नौ ही हैं।" यात्री ने देखा कि दसों सामने मौजूद हैं। उसको उन लोगों की मूर्खता मालूम हो गयी। उन्हें यह समझाने के लिये कि वे सचमुच दस हैं और दसों सकुशल नदी के पार पहुँच गये हैं, यात्री ने कहा—"अब सुनो। मैं तुम में से हर एक को एक एक थप्पड लगाऊँगा। ज्यों ही पहले आदमी के तमाचा लगे त्यों ही वह एक दम एक कह उठे। इस तरह दस तक हर आदमी अपनी संख्या बताते। कोई भी दो बार न बोले। इस तरह करने से तुम्हारा खोया हुआ आदमी मिल जायगा।" अपने खोये हुए साथी को पाने की खुशी में उन लोगों ने फ़ौरन यात्री की बात मान ली।

यात्री ने इन दसों के एक एक तमाचा मारा और ज्यों ज्यों वे तमाचा खाते गये त्यों त्यों क्रम से अपनी संख्या बोलते गये। अंतिम आदमी के मुँह से जब 'दस' निकला तब उन लोगों के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। उन लोगों को अब निश्चित रूप से मालूम हो गया कि वे दसों के दसों सजीव खड़े हैं। अपनी चिंता दूर करनेवाले यात्री का उन लोगों ने आभार माना।

इसी कथा में दसवाँ मनुष्य कहाँ से आया? क्या वह सचमुच गुम हो गया था? जब उन्होंने देखा कि दसवाँ तो वहीं उनके बीच में ही था तब क्या उन्होंने किसी नयी बात को जाना? उनके दुख का कारण सचमुच किसी का गुम हो जाना नहीं था; उनका अज्ञान ही—एक खो गया यह भ्रम ही—उनके दुख का कारण था। वे समझते थे कि उन्होंने नौ ही गिने हैं। इसलिये उनमें से एक व्यक्ति तो अवश्य ही गुम हो गया है, ऐसा उनका यह कल्पित भ्रम ही उनके दुख का कारण था।

तुम्हारी भी ठीक यही स्थिति है। सचमुच तुम्हें संतप्त और दुखी होने का कोई कारण नहीं है। तुम जो स्वयं परिपूर्ण तत्व हो। उसका सत्य स्वरूप परिमित है ऐसी अपनी मिथ्या धारणा के कारण तुम अपने आप को मात्र व्यष्टि जीव मानकर विलाप करते हो। फिर तुम कल्पित उपाधियों से छुटकारा पाने के लिये विविध साधनओं का आश्रय लेते हो। परंतु यदि तुम्हारी साधना ही स्वयं उपाधियों की सत्यता मानती हो तो फिर उससे तुमको वहाँ से किस प्रकार मदद मिल सकती है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसलिये मैं कहता हूँ कि तुम्हीं सचमुच केवल शुद्ध तत्व हो, अखंड विशुद्ध आत्मा हो, इस बात को अच्छी तरह जान लो। तुम सदा सर्वदा आत्मा ही हो, इसलिये आत्मा के बिना दूसरा कुछ है ही नहीं। इसके बाद तुम अपने सत्य स्वरूप के सम्बंध में अज्ञान में फंसे नहीं रह सकते। तुम्हारा अज्ञान वैसा ही कल्पित है जिस प्रकार खोये हुए दसवें मनुष्य के सम्बंध में उन मूर्खों की अज्ञता थी। इस भ्रम के कारण ही उन्हें दुख हुआ था।

इस तरह ज्ञानोंदय होंने से किसी नये सत्य स्वरूप की उत्पत्ति नहीं होती। उससे केवल मिथ्या भ्रम नष्ट होता है। आनंद स्वरूप जो कि तुम्हारी नित्य, निर्विकारी व सहज दशा है ऐसा दर्शन तुमको ज्ञानोदय होते ही अपने आप हो जाता है। इसके सिवाय ज्ञानोदय से तुम्हारी सहज दशा में कोई वृद्धि नहीं होती। आत्मज्ञान प्राप्त करना आत्मनिष्ठ होना यही एकमात्र तुम्हारे दुखों के निवारण का सच्चा मार्ग है। बोलो क्या इसकी प्राप्ति असंभव है?

---

2. साधना और कृपा

भक्त—अनंत काल से ईश्वर का शोध होता आया है। क्या इस सम्बंध में अब तक कोई अंतिम निर्णय पर पहुँच सका है?

(श्रीमहर्षि कुछ देर तक मौन रहते हैं।)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—(कुछ घबराहट से) क्या मैं यह समझ लूँ कि भगवान का मौन ही मेरे प्रश्न का उत्तर है?

म—हाँ। ईश्वर मौन स्वरूप ही हैं। तभी तो कहा है:—"**मौनव्याख्या प्रकटितपरब्रह्मतत्त्वम्**" अर्थात् मौन व्याख्या द्वारा परब्रह्म का सत्य स्वरूप प्रकट हुआ है।

भक्त—कहा जाता है कि बुद्ध भगवान ने ईश्वर के ऐसे शोध की अवगणना की थी।

म—और इसीलिये वे बाद में 'शून्यवादी' कहलाये थे। बात यह है कि वे ईश्वर आदि विषयक शास्त्रीय चर्चा करने के बदले जिज्ञासु को अभी व यहीं परमानंद प्राप्त करने का बोध कराते थे।

भक्त—कहा जाता है कि ईश्वर व्यक्त की तरह अव्यक्त भी है। जगत उसके सत्स्वरूप का एक अंश हैं, इसलिए वह उसके स्वरूप में समा जाता है। यदि यही बात हो तो हम भी जगत के एक अंश हैं। इसलिए ईश्वर का वह व्यक्त रूप हमारे द्वारा भी आसानी से पहचाना जाना चाहिये।

म—ईश्वर और जगत के स्वरूप का निर्णय करने के पहले अपने स्वरूप को तुम पहचानो।

भक्त—क्या अपने स्वरूप को जानने पर ईश्वर को जान सकते हैं?

म—हाँ, ईश्वर तुम्हारे अंदर ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—तब फिर मुझे अपने को या ईश्वर को पहिचानने के मार्ग में कौन-सी बाधा रुकावट डाल रही है?

म—तुम्हारा चंचल मन और उलटा मार्ग।

भक्त—मुझमें त्रुटियाँ भरी पड़ी हैं। पर मेरे अंदर के अंतर्यामी की अपार शक्ति मेरी बाधाओं को दूर क्यों नहीं करती?

म—यदि तुम्हारी श्रद्धा टिकी रहे तो बाधाएँ अवश्य दूर कर दी जायँगी।

भक्त—वहीं शक्ति मुझमें श्रद्धा भी क्यों नहीं उत्पन्न करती?

म—इसके लिये तुमको उनकी शरण में जाना चाहिये।

भक्त—यदि मैं आत्मसमर्पण कर दूँ तो क्या फिर प्रार्थना की आवश्यकता नहीं रहेगी?

म—शरणागति ही महान और प्रबल प्रार्थना है।

भक्त—पर क्या यह आवश्यक नहीं है कि आत्मसमर्पण के पहले उसके सत्यस्वरूप का परिचय प्राप्त कर लूँ?

म—यदि तुम्हारी यह भावना हो कि तुम जो-जो चाहते हो वह सब ईश्वर ही तुमको दे तो तुम आत्मसमर्पण करो, नहीं तो ईश्वर को एक बाजू में रखकर पहले तुम अपने स्वरूप को पहचानो।

भक्त—क्या ईश्वर या गुरु को मेरे लिए किसी प्रकार की चिंता हो सकती है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—सचमुच ईश्वर और गुरु दोनों एक ही हैं। यदि तुम सच्ची लगन के साथ उन दोनों में से एक की शरण में जाओ तो निश्चय समझो कि तुम अभी जो उनके सम्बंध में कल्पना करते हो, उससे भी अधिक तुम्हारी चिंता कर वे तुमको अपनी तरफ़ खींच लेंगे।

भक्त—ईसा मसीह की खोये हुए सिक्के की एक कथा है। उसमें कहा गया है कि जब तक वह सिक्का न मिला तब तक उस देवी ने उसकी खोज चालू रखी थी।

म—हाँ। यह इस सत्य को सप्रमाण सिद्ध करती है कि ईश्वर या गुरु सदा सर्वदा सच्चे साधक की खोज में रहते हैं।

यदि वह सिक्का किसी धातु का टुकड़ा होता तो वह देवी उसकी खोज में उतना अधिक समय न लगाती। इसका अर्थ तुमने बराबर समझ लिया? साधक को अपनी भक्ति आदि साधन द्वारा आवश्यक योग्यता प्राप्त करनी चाहिये।

भक्त—परंतु ईश्वरकृपा का विश्वास कैसे किया जाय?

म—तुम्हारे अपरिपक्क मन को ईश्वरकृपा का अनुभव न होता हो तो इसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वरकृपा नहीं होती है। यदि वास्तविक बात यही हो तो इसे यों समझना चाहिये कि कभी-कभी ईश्वर कृपालु नहीं होते अर्थात् ईश्वर ईश्वर नहीं होते। पर यह बिलकुल असंभव है।

भक्त—ईसा का यह कथन कि "जैसी श्रद्धा होती है वैसा फल मिलता है" क्या आप भी वही कहते हैं?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—हाँ, ठीक वैसा ही।

भक्त—मैने उपनिषद का ऐसा कथन सुना है कि आत्मा जिस पर प्रसन्न हो वही आत्मा को पहचान सकता है। आत्मा को किसलिए प्रसन्न होना चाहिये? यदि प्रसन्न भी हो तो अमुक व्यक्ति पर ही क्यों?

म—जब सूर्य उगता है तब कोई कोई कली ही खिलती है, सभी कलियाँ नहीं। क्या इसके लिये तुम सूर्य को दोष दोगे? कली कहीं अपने आप खिल नहीं सकती। उसको सूर्य के प्रकाश की जरूरत होती है।

भक्त—आत्मा ने स्वयं अपने पर माया का आवरण डाल रखा है, इसलिए यों नहीं कह सकते हैं कि उसे निकालने के लिये आत्मा की सहायता की भी आवश्यकता है?

म—कहा जा सकता है।

भक्त—यदि आत्मा ने ही अपने ऊपर आवरण डाल रखा हो तो उसीको उसे उतार कर क्यों नहीं फेंक देना चाहिये?

म—हाँ, परंतु आवरण किसके लिये है पहले इसकी तलाश कर देखो।

भक्त—मुझे क्यों इसकी तलाश कर देखना चाहिये? आत्मा को स्वयं ही अपना आवरण निकाल देना चाहिये।

म—यदि आत्मा ही आवरण के विषय में बोले तो यह स्वयं ही उसे निकाल भी देगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—क्या ईश्वर (साकार) पुरुष हैं?

म—हाँ, वे सदा सर्वदा प्रथम पुरुष 'मैं' हैं और वे सदैव तुम्हारे समक्ष ही रहते हैं। तुम ऐहिक पदार्थों पर प्रीति रखते हो। इसलिए ईश्वर कहीं छिपे-से दीखते है। यदि तुम और सब का त्यागकर केवल उसीकी खोज में लग जाओगे तो वे केवल 'मैं' रूप में अर्थात् आत्मरूप में विलसते रहेंगे।

भक्त—नौकरी का त्यागपात्र देकर सदा के लिये श्रीभगवान समक्ष ही रहने की मेरी बड़ी तीव्र इच्छा होती है।

म—भगवान सदाकाल तुम्हारे साथ और तुम्हारे अंदर रहते हैं। तुम्हारे अंदर की आत्मा ही भगवान है। इसका साक्षात्कार करने के लिए नौकरी का त्यागपत्र देने या घर छोड़ने की क्या आवश्यकता है?

भक्त—सन्यास द्वारा संसारिक आसक्तियों को छोड़ने और संसार का त्याग करने की मेरी उत्कट इच्छा है।

म—वेश-भूषा में बाहरी परिवर्तन अथवा केवल गृह-त्याग ही सन्यास नहीं है। कामनाओं, विषयों और आसक्तियों का त्याग ही सच्चा सन्यास हैं।

भक्त—परंतु संसार से बाहर निकले विना ईश्वर की अनन्यभक्ति नहीं हो सकती है।

म....यह बात भी ठीक नहीं है। जो सचमुच त्याग करता है वह संसार में वस्तुतः समा जाता है। उसका प्रेम इतना बड़ा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशाल बन जाता है कि उसमें सारे विश्व का समावेश हो जाता है। घर छोड़कर काषाय वस्त्र धारण करने की अपेक्षा विश्व-प्रेमी बनना ही भक्त की सच्ची वृत्ति व लक्षण है।

भक्त—परंतु घर में आसक्तियाँ प्रबल रहती है।

म—जो घर में रहकर अपने निकट के संबंधो का त्याग कर सकते हैं वे सचमुच ज्ञाति की मर्यादा से परे होकर सारे संसार के प्रति प्रेम से बरतते हैं।

भक्त—मन में रहनेवाली आसक्तियों को निकाल फेंकने के लिए क्या सन्यास सर्वोत्तम साधन नहीं है?

म—जिनका मन स्वयं अनासक्त हो गया है उनके लिये सन्यास सर्वोत्तम साधन क्या हो सकता है? उनको सन्यास की क्या आवश्यकता है? माळूम होता है तुमने सन्यास का गूढ़ार्थ अभी तक बराबर नहीं समझा। पर जिन महापुरुषों ने संसार का त्याग किया है उन लोगों ने अपने कुटुंब के प्रति असंतोष होने के कारण सन्यास-धारण नहीं किया पर समस्त मानव जाति और सब प्राणियों के प्रति उदार व विशाल प्रेम होने के कारण किया है।

भक्त—जीवन में किसी समय तो कुटुंब के बंधन टूटने वाले ही हैं फिर मैं क्यों न तोड़ दूँ जिससे मैं सबके साथ समान प्रेम से रह सकूँ?

म—जब तुम सचमुच सब पर समान रूप से प्रेम रखोगे और वह प्रेम व्यापक बनकर सारी सृष्टि को अपनायेगा तब तुम्हें किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी वस्तु का त्याग करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। जिस प्रकार पेड़ की डाल पर से पका फल स्वभावतः झड़ पड़ता है उसी प्रकार तुम भी झड़ जाओगे। तब तुममें ऐसी श्रद्धा जगेगी कि सारा विश्व तुम्हारा घर बन जायगा 'वसुधैव कुटुंबकम्' वाले हो जाओगे तब तक कुटुंब का त्याग करने की बात करना मूर्खता है।

भ—अद्वैत मार्ग के अनुसार मुक्ति की अंतिम दशा जीव व ब्रह्म का ऐक्य भाव है। विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के अनुसार केवल अनुभव में ही पृथक भाव रहता है; द्वैत के अनुसार तो ऐक्य भाव है ही नहीं। इन तीनों में से किस मत को सच्चा माना जाय?

म—भविष्य में अमुक समय क्या होगा इस बात की चिंता भी हमें क्यों करनी चाहिए?

'मैं' हूँ इसके विषय में सब आत्मवादियों का एक मत है। स्वयं वेदांत संप्रदाय का अनुयायी हों तो भी सच्चे साधक को सबसे पहले 'मैं' का अनुसंधान ही करना चाहिए और 'मैं कौन हूँ' की विचारधारा सतत चालू रखनी चाहिए। तभी 'मैं' अर्थात् आत्मा परमात्मा के साथ ऐक्यभाव प्राप्त करती है या उससे भिन्न रहती है, इसे दरसाने वाली मुक्ति का सच्चा स्वरूप समझने योग्य समय उसे मिलेगा। इसलिए पहले ही से अंतिम दशा के विषय में हमें क्यों निर्णय कर लेना चाहिए?

भक्त—परंतु क्या साधक के लिए अंतिम दशा का ज्ञान उपयोगी और मार्गदर्शक नहीं बन सकता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—अभी से उसका निर्णय करने से कोई लाभ नहीं है।

भक्त—क्यों?

म—क्योंकि तुम्हारा सिद्धांत ही खोटा है। तुम्हारा निर्णय तुम्हारी मनोवृत्ति के अनुसार होता है। मन को आत्मा से प्रकाश मिलता है। यदि स्वयं मन आत्मा का स्वरूप निश्चित करने निकले तो वह बड़ा भारी घमंडी समझा जायगा।

बुद्धि कभी भी न तो आत्मा के पास पहुँच सकती है और न उसकी प्राप्ति कर सकती है। वह आत्मानुभूति की दशा समझने में सर्वथा असमर्थ है। अनुभूति की अंतिम स्थिति किस प्रकार की होती है, इसका निर्णय वह किस तरह कर सकेगी? वह तो सूर्य के प्रकाश को उसके मंडल के पास ही एक मोमबत्ती के जितने प्रकाश-वाले मापदंड से मापने के बराबर हुआ। सूर्य से बहुत दूरी पर ही बेचारी मोमबत्ती गल जाती है। बुद्धि की भी यही स्थिति होगी। इसलिए इस व्यर्थ विवाद को छोड़कर नित्य और अपरोक्ष आत्मा के दर्शन की साधना में अभी लग जाना चाहिए।

---

3. ज्ञानी और जगत

भक्त—क्या ज्ञानी जगत को देखता है?

म—यह प्रश्न किसके लिये है? ज्ञानी वा अज्ञानी के लिए?

भक्त—निःसंदेह अज्ञानी के लिए ही।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—क्या जगत स्वयं अपनी सत्यता सिद्ध करना चाहता है? क्या यह शंका स्वयं तुम्हारी अपनी नहीं हैं? पहले इसे जान लो कि शंका करनेवाला कौन है? बाद में जगत सत्य है या मिथ्या इसका विचार अपने आप हो जायगा।

भक्त—जिस प्रकार अज्ञानी जगत व पंचेंद्रियों से ग्रहण किये जानेवाले विषयों को देखता है क्या उसी प्रकार ज्ञानी भी देखते हैं या नहीं?

म—तुम जगत देखते हो ऐसा कहते हो, पर क्या तुम्हारे बिना पदार्थ का किसी भी प्रकार का ज्ञान हो सकता है? तुम जो द्रष्टा हो उसे पहले पहचाने बिना दृश्य-जगत के सच्चे स्वरूप को कैसे जान सकते हो? ज्ञानेन्द्रिय तुम्हारे सामने के पदार्थों को देखती है यह ठीक है, परंतु यह प्रश्न क्या तुम्हारे शरीर के लिये उठता है? 'मैं पदार्थों का अनुभव करता हूँ इसलिए यह सत्य है?' क्या शरीर ऐसा कहता है अथवा जगत यों कहता है कि 'मैं जगत हूँ?'

भक्त—ज्ञानी दृश्य जगत को कैसे देखता है और ज्ञानानुभूति के बाद वह पुनः उन पदार्थों को देखता है या नहीं? यही मेरा प्रश्न है।

म—आत्मानुभूति के बाद जगत का क्या होता है इसकी और जगत की चिंता तुम्हें क्यों करनी चाहिये? पहले आत्मा का साक्षात्कार करो। फिर जगत दीखे या न दीखे उससे तुमको क्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लेना-देना है? निद्रा में जगत दीखता नहीं है उससे क्या तुम्हारी हानि कुछ होती है? और इस समय जब कि तुमको जगत दीख रहा है तब तुम्हारा क्या कुछ लाभ होता है? ज्ञानी अज्ञानी दोनों के लिए इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है कि उनको जगत दीखे या न दीखे, पर दोनों के दृष्टिबिंदु में अंतर है।

भक्त—यदि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को जगत एक ही प्रकार का दीखता है तो उनके दृष्टिकोण में कैसे अंतर हो सकता है?

म—ज्ञानी जब जगत को देखते हैं तब वे जगदाधार-रूपी अपनी आत्मा को भी उसमें देखते हैं। पर अज्ञानी जगत को देखते या न देखते समय अपने सत्य स्वरूप से अनजान रहता है।

सिनेमा के खेल के समय परदे पर होनेवाले चलचित्रों का ही उदाहरण लें। खेल शुरू होने के पहले तुम्हारे सामने क्या होता है? केवल परदा रहता है जिस पर तुम सारा खेल देखते हो। ऊपर ऊपर से तो उस पर चित्र सच्चे मालूम होते हैं? पर इन चित्रों को पकड़ने जायँ तो वे क्या हाथ में आ सकते हैं? परदे के आधार पर जो चित्र सच्चे दीखते हैं उनके बदले केवल परदा ही हाथ में आता है। खेल पूरा होने के बाद चित्र अदृश्य हो जाते हैं तब सामने क्या रहता है? पहले पहल दिखाई देनेवाला परदा ही।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मा के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिये। क्यों कि यहाँ वहाँ सर्वत्र वही एक मात्र विलसती रहती है। चित्र तो आते जाते रहते हैं। यदि तुम आत्मा में लीन रहोगे तो तुम चित्रों के दृश्यों से ठगे नहीं जाओगे। आत्मदर्शन के बाद चित्र दीखें या अदृश्य हो जाँय उसकी चिंता नहीं रहेगी। जिस प्रकार मनुष्य परदे को छोड़कर चित्रों को सत्य समझने का भ्रम करते हैं उसी प्रकार अज्ञानी जगत को आत्मा से भिन्न और सत्य मानने के भ्रम में पड़ा रहता है। जैसे परदे के विना चित्र नहीं होता है वैसे ही आत्मा के विना जगत का भी अस्तित्व नहीं है ऐसा ज्ञान जिसको सतत बना रहता है वह भ्रम में नहीं पड़ता। ज्ञानी जानते हैं कि परदा और चित्र दोनों आत्मा ही हैं। चित्र न हों तो आत्मा अव्यक्त स्वरूप में रहती है और चित्र हों तब व्यक्त रूप में रहती है। आत्मा के एक या दूसरे रूप में रहने से ज्ञानी को कुछ भी नहीं होता। वे सदा आत्मरूप में हीं रमण करते रहते हैं। परंतु अज्ञानी जब ज्ञानी को भिन्न-भिन्न कार्यों में लगा हुआ देखता है तब वह भ्रम में पड़ जाता है।

भक्त—यही बात समझने के लिए मैंने आपसे पहला प्रश्न पूछा था। ज्ञानी जगत् को हमारी तरह देखते हैं या नहीं और यदि देखते हैं तो कल जो वह चित्र विचित्र ढंग से गुम हो गया उसके विषय में भगवान ने क्या सोचा, यह जानने की मेरी बड़ी इच्छा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—(हँसकर) क्या तुम मदुरा के मंदिर के चित्र की बात करते हो? थोड़ी देर पहले सब लोग उसे बारी-बारी से देखते थे। किसीने उसे किसी पुस्तक के अंदर भूल से रख दिया होगा।

भक्त—हाँ, वहीं घटना। चित्र को खोजने के लिए भारी प्रयत्न किया गया, फिर भी वह नहीं मिला। जिस समय उसकी खास आवश्यकता थी ठीक उसी समय वह गुम हो गया। उसका भगवान पर क्या असर पड़ा?

म—कल्पना करो कि तुमने रात्रि में ऐसा एक स्वप्न देखा कि जिसमें तुम मुझे अपनी जन्मभूमि की तरफ़ ले जाते हो। जागने के बाद तुमने मुझसे पूछा कि "मुझे ऐसा स्वप्न आया था। क्या आपने भी कोई ऐसा स्वप्न देखा था और उसमें क्या आपको ऐसा आभास हुआ कि मैं आपको अपनी जन्मभूमि की ओर ले जाता था?" इस प्रश्न को तुम कितना महत्व देते हो?

भक्त—चित्र की घटना श्री भगवान के समक्ष ही हुई थी।

म—चित्र देखने के लिए हाथ में लेना, उसका अदृश्य होना और फिर तुम्हारा इस तरह प्रश्न करना यह सब मन की ही प्रवृत्ति है। एक पौराणिक कथा इस बात को स्पष्ट करती है:— पंचवटी से सीता का हरण होने के बाद श्रीरामचंद्र 'हे सीता, हे सीता' विलाप करते हुए उसकी खोज में निकले। इस घटना को आकाश में विहरते शंकर पार्वती ने देखा। पार्वती ने कहा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"आप श्रीरामचंद्र को पूर्ण पुरुषोत्तम मानकर उनकी स्तुति करते थे। पर अब सीता से बिछुड़ जाने के कारण देखिये वे कैसे दुखी हो रहे हैं!" शंकर ने उत्तर दिया: "यदि तुमको श्रीरामचंद्र की पूर्णता में शंका हो तो तुम स्वयं उनकी परीक्षा कर देखो। तुम अपनी योगमाया द्वारा सीता का रूप धारण कर उनके सामने उपस्थित हो जाओ"। पार्वती ने वैसा ही किया। सीता का रूप लेकर श्रीराम के सामने खड़ी हो गयी। तब भी श्रीराम उससे बिलकुल विचलित न होकर पूर्ववत् बराबर 'हे सीता! हे सीता!' विलाप करते हुए अपना रुदन चालू रखा। इससे पार्वती बहुत आश्चर्यचकित हो गयीं।

भक्त—मैंने इस कथा का तत्व नहीं समझा।

म—वास्तव में यदि श्रीराम सीताजी के शरीर की खोज में होते तो खोयी हुई सीता के रूप में उपस्थित पार्वती के शरीर में अवश्य उसे देख लेते। परंतु असल बात यह नहीं थी। उनकी दृष्टि में खोयी हुई सीता और अब उसके सामने पार्वती के रूप में उपस्थिति सीता दोनों मिथ्या थीं। श्रीराम सचमुच चक्षुविहीन नहीं थे। सीता का पर्ण-कुटी में होना, वहाँ से उसका हरण होना, उसके बाद उसकी खोज में श्रीराम का स्वयं निकलना और सीता के रूप में पार्वती का आना, ये सब बातें श्रीराम जैसे ज्ञानी के लिए मिथ्या थीं। खोये हुए चित्र के विषय में मेरा क्या विचार है, सो तुम अब साफ़ समझ गये?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—मैंने अब भी कुछ नहीं समझा। जगत् कई प्रकार से देखा जाता है व उसका अनुभव भी कई प्रकार का होता है। फिर भी क्या यह सब स्वप्न या कल्पना ही है?

म—यदि तुम केवल सत्य का ही शोध करते हो तो जगत् को मिथ्या मानने के सिवाय कोई चारा नहीं है।

भक्त—क्यों?

म—क्योंकि जगत् सत्य है, इस ख़्याल को जब तक न छोड़ोगे तब तक तुम्हारा मन हमेशा उसके पीछे दौड़ता रहेगा। यद्यपि सत्य सर्वत्र एक ही विद्यमान है, फिर भी जो सचमुच असत्य है उसे यदि तुम सत्य मानते हो तो तुम स्वयं सत्य को भी कभी जान नहीं पाओगे। यह बात रज्जु-सर्प के रूपक से बिलकुल साफ़ मालूम हो जायगी। तुम जब तक सर्प देखते हो तब तक तुमको उसमें रस्सी नहीं दीखती। तुमको कल्पित सर्प सत्य दीखता है और यथार्थ रस्सी सत्य नहीं लगती।

भक्त—जगत् अंत में परम सत्य नहीं है, इसे स्वीकार करना बिलकुल सरल है। परंतु यह सचमुच असत्य ही है, ऐसा मानना कठिन है।

म—जब तुम स्वप्न में रहते हो तब तुम्हें इसी प्रकार स्वप्न-जगत् सत्य लगता है। जब तक स्वप्न जारी रहता है तब तक तुम जो-जो देखते हो या जो कुछ अनुभव करते हो वह सब वस्तु तुमको सत्य प्रतीत होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—तब क्या जगत् की सत्यता स्वप्न की सत्यता जैसी ही है?

म—जब स्वप्न में रहते हो तब स्वप्न को सत्य मानने में क्या तुमको जरा भी दोष मालूम होता है? जब किसी मृतक मनुष्य के साथ बात करने जैसा असंभावित स्वप्न तुमको आता है तब क्या क्षण-भर के लिए भी तुमको यह शंका होती है कि वह मनुष्य तो मर गया है? परंतु उस समय तुम्हारा मन स्वप्न दृश्य के अनुरूप हो जाता है और वह उसे सत्य मानता है। जब तक स्वप्न चालू रहता है तब तक उस मृतक मनुष्य का जीवित रहना हीं तुम्हें सत्य लगता है। स्वप्न-काल में उसकी सत्यता के विषय में तुम्हारे मन में शंका उत्पन्न ही नहीं होती। इसी प्रकार तुम्हारी जाग्रत अवस्था के बीच इस जगत् की सत्यता के विषय में तुम शंका ला हीं नहीं सकते। जो मन जगत् को उत्पन्न करता है वही उसे मिथ्या कैसे स्वीकार करे? जाग्रत दृश्य का जगत् और स्वप्न जगत् इन दोनों की समानता सिद्ध करना केवल मन की ही कल्पना है। जब तक मन इन दो में से एक में ही लगा रहता है तब तक स्वप्नावस्था में स्वप्न जगत् की और जाग्रत अवस्था में जाग्रत-जागत् की सत्यता को वह इनकार नहीं कर सकता। इससे विपरीत यदि तुम अपने मन को जगत् से विमुख कर अंतर्मुख करोगे और उसी दशा में दृढ़ हो जाओगे अर्थात् तुम सब अनुभवों की आधाररूपिणी आत्म-जागृति क़ायम रखोगे तो तुम अब जिस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जगत् में जीवित रहते हो वह भी स्वप्न-जगत् की तरह मिथ्या मालूम होगा।

भक्त—मैंने पहले कहा था वैसे हम कई प्रकार से जगत् को देखते हैं व उसका अनुभव भी करते हैं। जैसे स्वप्न में बनता है वैसे ये सब अनुभव केवल मन के ही गढ़े नहीं होते। इतना तो स्पष्ट है कि स्वप्न में देखे पदार्थों का असर भिन्न-भिन्न मनुष्यों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इतना ही नहीं, परंतु एक ही मनुष्य पर भी उसका असर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जाग्रत जगत ऐसा नहीं है। इसलिए जगत् की बाहरी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है?

म—स्वप्न में देखी ये सब असंगत बातें और स्वप्न-जगत् के साथ उनका सम्बंध ये सब तुम्हारे जागने के बाद ही उपस्थित होते हैं। स्वप्न में जब तुमको प्यास लगती है तब तुम उस मिथ्या प्यास को, मिथ्या पानी पीकर मिथ्यारूप में नहीं बुझाते? परंतु स्वप्न ही मिथ्या था, ऐसा अनुभव जब तक तुमको नहीं होता तब तक तुम्हें वह मिथ्या स्वप्न सत्य भासित होता है। जाग्रत जगत् की भी यही बात है। अब तुम्हारे सभी अनुभव एकत्रित होकर तुम पर ऐसा प्रभाव डाल रहे हैं जिससे तुम उन्हें सत्य मानते हो।

इसके विरुद्ध यदि जाग्रत जगत् सत्य हो, तो फिर वह द्रा में क्यों नहीं दीखता? निद्रा में यह जगत् था यह बात

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुभव से सिद्ध नहीं हो सकती। परंतु निद्रा में तुम्हारा स्वयं का अस्तित्व था, इसके विषय में क्या कभी कोई शंका रहती है?

भक्त—नींद में अपना भान न रहना स्वाभाविक है। नींद में मुझे जगत् दीखता नहीं है तो भी नींद में उसके अस्तित्व को इनकार नहीं करता। उस समय उसका अस्तित्व नहीं मिटता। नींद में मैंने चाहे उसे न देखा हो, परंतु उस समय जो नींद में नहीं थे ऐसे कई लोग देखते हीं रहते थे।

म—नींद में भी तुम्हारा अस्तित्व था इसे सिद्ध करने के लिए तुम्हें क्या दूसरे साक्षियों की आवश्यकता होती है? तो फिर अब तुमको उन साक्षियों की क्यों आवश्यकता हुई? (तुम्हारी निद्रा में) जगत को देखनेवाले वे 'दूसरे' तुम्हें जगाते हैं तभी यह बात तुम से कह सकते हैं। परंतु तुम्हारे अस्तित्व की बात इससे सर्वथा भिन्न है। क्योंकि जागकर तुम स्वयं कहते हो कि मैं खूब सोया अर्थात् गहरी निद्रा में भी इस हद तक निद्रा का भान रहा पर जगत् के उस समय के अस्तित्व का लेशमात्र भी विचार तुमको निद्रा में नहीं होता। अभी भी जब कि तुम जाग्रतावस्था में हो ऐसे समय में भी क्या जगत तुमसे यह कह रहा है कि वह सच है या तुम स्वयं ही ऐसा कहते हो?

भक्त—निःसंदेह, मैं स्वयं ही जगत के विषय में कह रहा हूँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—तब तो जगत् तुम्हारी हँसी उड़ायेगा कि "तुम अपने सत्य स्वरूप को जानने के पहले जगत् की सत्यता सिद्ध करने निकले हो?" तुम किसी प्रकार से जगत् की सत्यता सिद्ध करना चाहते हो? सत्य की व्याख्या क्या है? जो शाश्वत स्वतःसिद्ध और स्वयं प्रकाशित है वहीं केवल सत्य है। क्या जगत् स्वतः सिद्ध है? क्या मन की सहायता के बिना वह टिक सकता है? निद्रा में मन नहीं होता। उसी प्रकार जगत् भी नहीं होता। जाग्रत होते ही वह मन को जानने लगता है और सत्य जगत् को जान लेता हैं। नित्य परस्परावलंबी इन दो वस्तुओं का क्या अर्थ समझा जाय?

क्या तर्क शास्त्र के अनुमान आदि सिद्धांतों का तुमको ज्ञान है? वह भौतिक शास्त्र का आधार स्तंभ माना जाता है। तो फिर तुम इन मान्य सिद्धांतों के द्वारा ही जगत् की सत्यता के प्रश्न का निर्णय क्यों नहीं करते?

'मैं हूँ' ऐसा जगत् स्वयं नहीं कह सकता। परंतु तुम ऐसा कह सकते हो। क्योंकि तुम्हारा अस्तित्व निरा अस्तित्व ही नहीं परंतु उसके साथ भान भी तो होता है। वास्तव में यह अस्तित्व और भान एक ही हैं।

भक्त—जगत् को चाहे अपना भान न हो फिर भी उसका अस्तित्व नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—भान माने आत्मज्ञान ही। जब तुमको दूसरी किसी वस्तु का भान होता है तब वास्तव में तुमको अपने निजका ही आभास होता है। अपने भान के विना का अस्तित्व विपरीत वस्तु है। ऐसा कोई अस्तित्व ही नहीं है। वह केवल कल्पित वस्तु है। जब सच्चा अस्तित्व या सत् है वह कोई कल्पित वस्तु नहीं हो सकती; परंतु सर्वत्र सद्वस्तु है। इसलिए सत्य सत्-चित् कहलाता है और ये दोनों एक दूसरे के साथ होते हैं तथा एक दूसरे से कभी भी अलग नहीं होते। पहले बताया है उसके अनुसार जगत् अकेला अपने आप टिक नहीं सकता वैसे ही उसे अपने अस्तित्व का भान भी नहीं होता अर्थात् जो स्वयं सिद्ध नहीं है वैसे वह स्वयं प्रकाश भी नहीं है। ऐसे जगत को सत्य किस प्रकार कह सकते हैं?

इस जगत का स्वरूप भी कैसा है? इसमें सदैव परिवर्तन होता ही रहता है। परावलंबी, आत्मज्ञान रहित और सदा परिवर्तनशील जगत सत्य हो ही नहीं सकता।

भक्त—पश्चिम का विज्ञान जगत को सत्य मानता है। इतना ही नहीं परंतु वेदों में इस ब्रह्मांड और उसकी उत्पत्ति के विस्तृत वर्णन भी प्राप्त होते हैं। यदि जगत मिथ्या होता तो ऐसे वर्णन किस कारण से दिये गये हैं?

म—वेद और उपनिषदों का मुख्य आशय तुमको आत्मा की अमरता का बोध देकर अधिकारपूर्वक यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घोषणा करने का रहा था कि 'तत् त्वमसि' अर्थात् वह तू ही है।

भक्त—मैं इसे मानता हूँ परंतु वेदों ने यदि जगत को सत्य न माना होता तो उनमें इतने लंबे-चौड़े विवरण किस उद्देश से दिये गये हैं?

म—तुम्हें तो जो सिद्ध हो गया है उसका आचरण कर बाकी को छोड़ देना चाहिये। शास्त्रों को सत्य के प्रत्येक प्रकार के शोधक को मार्ग बताना है और सब लोग एक ही प्रकार के मानसिक वृत्तिवाले नहीं होते। इन्हीं कारणों से शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कथन देखने में आते हैं। उनमें जो स्वीकार करने योग्य न हो उन्हें अर्थवाद मानकर छोड़ देना हीं उचित है।

4. (हृत्+अयम्) हृदय ही आत्मा

भक्त—श्रीभगवान हृदय को चैतन्य का अधिष्ठान कहते हैं और उसे और आत्मा को एक ही मानते हैं। परंतु सचमुच हृदय का ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

म—तुम चैतन्य के मूल को ढूँढ निकालने के लिए उत्सुक हो। इसीलिए तुम हृदय के विषय में यह प्रश्न पूछे रहे हो। विवेकी लोग सदा स्वस्वरूप की विचारणा में तथा मनस्तत्व के निर्णय में स्वभावतः अधिक रस लेते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहे जिस नाम से बुलाओ परंतु ईश्वर, आत्मा, हृदय या चैतन्य का अधिष्ठान ये सब एक ही है। ग्रहण करने की बात यह है कि हृदय वास्तव में हमारे स्वस्वरूप का अधिष्ठान है जिसके बिना और कुछ भी नहीं हैं। उसी में यह सब समाया हुआ है।

भक्त—परंतु श्रीभगवान ने इस जड़ देह में हृदय का स्थान छाती के मध्य स्थान से दाहिनी तरफ़ दो अंगुल दूर बताया है।

म—हाँ, ऋषियों के अनुभवानुसार वह आध्यात्मिक अनुभव का केन्द्र है। यह आध्यात्मिक हृदय-केन्द्र, रक्त का संचरण करनेवाले अवयव से बिलकुल भिन्न ही है। वह तो तुम्हारे स्वरूप का सत्व ही है। **तत्वमसि-वह तू ही है**। सब कुछ वही है। जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति की तीनों दशाओं और तुम्हारी प्रवृत्तियों के बीच में तथा गाढ समाधि में भी तुम वही हो।

भक्त—यदि बात ऐसी ही हो, तो उसे शरीर के अमुक भाग में रहनेवाला कैसे मान सकते है? यदि ऐसा मानें तो जो देश काल से परे है और भौतिक उपाधि रहित है क्या वह परिमित नहीं बन जाता है?

म—यही सच है। परंतु जो व्यक्ति हृदय के अधिष्ठान को जानना चाहता है वह मानता है कि उसका अपना अस्तित्व शरीर में है। अब यह प्रश्न पूछते समय क्या तुम वह समझते हो कि तुम्हारा शरीर ही यहाँ है और तुम स्वयं दूसरे किसी स्थान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से बोल रहे हो? नहीं, तुम अपने देहभाव को सहज मानते हो। इस दृष्टि से ही जड़ देह का उल्लेख करने में आता है।

सच कहें तो शुद्ध चैतन्य एक और अविभाज्य है। उसका न स्वरूप है और न वह 'अंदर-बाहर' है। न उसकी दाईं-बाईं सी कोई वस्तु है। हृदय के शुद्ध चैतन्य में सब का समावेश होता है। उससे भिन्न कुछ है ही नहीं। यही अनंत सत्य है।

ऐसी परम दशा में आत्मा अर्थात् हृदय का कोई विशिष्ट स्थान स्थूल शरीर में नियत नहीं किया जा सकता।

भक्त—इसका कारण क्या है?

म—क्योंकि शरीर मन की उत्पत्ति के सिवाय और कुछ नहीं है। और मन भी क्या है? वह स्वयंप्रकाश हृदय का छोटा प्रतिबिंब है। जिसके अंदर सभी वस्तुएँ समायी हुई हैं। वह तत्त्व अपने अल्प दृश्यरूपी जड देह के अंदर कैसे समा सकता है?

परंतु अज्ञानी यह नहीं समझता। वह देह और मन के बिना इस तत्त्व का विचार ही नहीं कर सकता।

उदाहरण के लिये तुम इस बात को लो: तुम कहते हो कि "मैं हिमालय से आगे बहुत दूर मेरे प्रदेश से यहाँ आश्रम में आया हूँ"। परंतु वास्तव में यह सच्ची बात नहीं है। सर्व-व्यापी आत्मारूपी तुम जो हो तुम्हारे लिये 'आना' या 'जाना' तथा और अन्य कोई प्रवृत्ति ही कहाँ से हो सकती है? तुम तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जहाँ जैसे हो वहीं वैसे ही हो। वास्तव में तुम्हारा शरीर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते जाते अंत में इस आश्रम में आ पहुँचा है।

यहीं सरल सत्य है। परंतु जो मनुष्य अपने को दृश्य जगत में रहनेवाला व्यक्ति मानता है उसको यह सत्य माया-जाल जैसा लगता है।

प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से ही हृदय के अधिष्ठान की स्थूल देह में कल्पना की गयी है।

भक्त—यदि वात ऐसी है तो हृदय-केन्द्र का अनुभव छाती में निश्चित स्थान में होता है ऐसा श्रीभगवान का जो कथन है उसका अर्थ क्या समझा जाय?

म—यदि तुम एक वार इतना सत्य स्वीकार कर लो कि केवल चिन्मय अर्थात् शुद्ध चैतन्य रूपी हृदय देश-काल से अतीत है तो फिर ऐसी पारमार्थिक दृष्टि से बाकी सब आसानी से समझ में आ सकता है।

भक्त—इस भाव को समझने के लिये ही मैंने हृदय के अधिष्ठान के विषय में प्रश्न पूछा है। मैं श्रीभगवान का अनुभव सुनना चाहता हूँ।

म—ज्ञानी को त्रिकरणातीत शुद्ध चैतन्य का अनुभ होता है। जिस प्रकार अज्ञानी को देहाध्यास स्वाभावि.. लगता है उसी प्रकार ज्ञानी को निरुपाधिक नित्य स्वानुभूति सत्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लगता है। परंतु उनकी यह अनुभूति सोपाधिक (सशरीर) या निरुपाधिक (अशरीर) भी हो सकती है। केवल अनुभूति में ज्ञानी देश-काल से अतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में हृदय के अधिष्ठान का प्रश्न खड़ा ही नहीं होता।

परंतु प्राण चैतन्य के आधार के विना टिक नहीं सकता अर्थात् चैतन्य द्वारा ही देहभाव टिकाये रखना पड़ता है। देह भाव परिमित होने से कभी भी अपरिमित और शाश्वत ऐसे शुद्ध चैतन्य के साथ बराबरी नहीं कर सकता। जिस शुद्ध चैतन्य में ज्ञानी अहर्निश निमज्जित रहते हैं उसके परमाणु जितना वरन उससे भी अल्प प्रतिबिंब देहभाव है। इसलिए शरीर के प्रति ज्ञानी की दृष्टि इस प्रकार की होती है।

शुद्ध चैतन्यरूपी निरुपाधिक हृदयानुभव के बीच में ज्ञानी को देहभाव लेशमात्र भी नहीं होता। इस कारण से जब-जब उनमें देहभाव उठता है तब-तब वे अपनी अनुभव स्मृति द्वारा अपने हृदयानुभव के लिये स्थूल देह में अमुक एक स्थान को नियत रखते हैं।

भक्त—मेरे जैसे मनुष्य जिसे कि हृदय का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं अथवा उसके बाद की स्मृति भी नहीं है उसके लिये विषय का ग्रहण करना कठिन मालूम पड़ता है। हृदय के अधिष्ठान के विषय में हमको तो अनुमान पर ही आधार रखना पड़ता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—तब तो इसके विषय में विचार ही करना व्यर्थ है। तुम सचमुच अनुमान का आधार नहीं लेते हो। परंतु तुम अचूक अंतःस्फुरण के आश्रय में ही आगे बढ़ते हो।

भक्त—ऐसा अंतःस्फुरण किसे प्राप्त होता है?

म—प्रत्येक को।

भक्त—क्या मुझे भी अंतःस्फुरण प्राप्त करने का सौभाग्य श्रीभगवान् द्वारा मिल सकता है?

म—हृदय का नहीं, परंतु शरीरांतर्गत हृदय के स्थान का स्फुरण तुममें अवश्य है।

भक्त—क्या श्रीभगवान् यों कहते हैं कि हृदय का स्थान जहाँ है उसका मुझे स्फुरण है?

म—क्यों नहीं कहूँ?

भक्त—(अपनी छाती की तरफ़ इशारा करते हुए) क्या मेरे ही विषय में श्रीभगवान् यह बात कह रहे हैं?

म—हाँ, यही अंतःस्फुरण है। अभी मेरे ही सामने तुमने अपने विषय में संकेत कर क्या बताया? तुम अपनी उंगली अपनी छाती की दाहिनी ओर रखो! बस यही हृदय का अधिष्ठान है।

भक्त—तब तो हृदय के प्रत्यक्ष अनुभव के अभाव में मुझे इस अंतःस्फुरण का आश्रय लेना चाहिए?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—अंतःस्फुरण में दोष क्या है? एक विद्यार्थी कहता है कि "मैंने गणित के प्रश्न को ठीक लगाया" या पूछता है कि "मैं दौड़कर तुम्हारे लिए पुस्तक ले आऊँ" तब प्रश्न ठीक लगाने के लिये बुद्धि या पुस्तक लाने के लिये दौड़नेवाले पैरों को बताता है? नहीं। ऐसे सभी प्रसंगों में उसकी उंगली स्वभावतया उसकी छाती की दाहिनी ओर ही जाती है। इस प्रकार से वह मैं अर्थात् आत्मा का मूल वहाँ है इस गंभीर तत्त्व का अनजान में ही बहिर्दर्शन करता है। यह अचूक अंतःस्फुरण ही उसके पास इस प्रकार आत्मरूपी हृदय का निर्देश करता है। यह क्रिया बिलकुल सहज और बिना अपवाद के सभी मनुष्यों में स्वभावतः अंतर्गत होती है।

देह में हृदय का अधिष्ठान नियत करने के सम्बंध में इससे कुछ विशेष सबल प्रमाण क्या तुमको और चाहिए?

---

5. अहम् और अहंवृत्ति

भक्त—अहंता से शुरू की हुई विचारणा अहंता की ही असत्यता को कैसे प्रकट कर सकती है? क्या यह अनुचित नहीं है?

म—जिस स्थान से अहंवृत्ति उठती है उस मूल स्थान में यदि तुम डुबकी मारोगे तो तुम अहंकार के मिथ्याभास से परे हो जाओगे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—क्या हम यह कह सकते हैं कि तीन प्रकार की अहंताओं मे यह भी एक है जहाँ से विचारणा शुरू होती है? योगवासिष्ठ और श्रुति में जो तीन प्रकार की अहंता बतायी गयी है क्या वह ठीक है?

म—हाँ, कहा जाता है कि अहंता के स्थूल, सूक्ष्म और कारण ऐसे तीन प्रकार के शरीर हैं। परंतु ये भेद तो केवल तत्त्व-विचार के निमित्त से बताये गये हैं। और यदि विचारमार्ग का आधार लेकर अहं के स्वरूप के विषय में विचार किया जाय तो प्रत्येक विचारणा बिलकुल अशक्य हो जायगी। क्योंकि व्यक्ति भेद से अहंता असंख्य रूप धारण करती है। इसलिए तात्त्विक दृष्टि से इस विषय में यों मानना उचित है कि अहंवृत्ति एक ही अहं का रूप है।

भक्त—अहंवृत्ति के मूल का शोध करने पर क्या पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है?

म—अहंवृत्ति के मूल के शोध के द्वारा आत्मविचार करना उस कुत्ते के काम के समान होगा जहाँ कुत्ता अपने मालिक को ढूँढ़ने के लिये उसकी गंध के मूल स्थान को सूंघ-सूंघ कर ढूंढ़ने जाता है। मालिक चाहे जितनी दूरी पर किसी अनजान जगह में हो फिर भी कुत्ता बिलकुल आसानी से उसे ढूँढ़ निकालता है। उसके लिये मालिक के कपड़े, उसकी ऊँचाई, उसका कच्छ आदि किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। शोधन काल में कुत्ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपना मन मालिक की गंध के सिवाय और किसी वस्तु में न लगाकर अंत में उसी एक गंध के आधार से सफलतापूर्वक अपने मालिक को ढूँढ निकालता है।

इसी प्रकार तुम्हारे आत्मविचार की साधना में तुम्हारे अनुभव की मूलाधाररूपी अहंवृत्ति ही अचूक मार्गदर्शक है। दूसरा कोई भी उपाय आत्मसाक्षात्कार की प्रत्यक्ष साधना नहीं है।

भक्त—वृत्तियाँ असंख्य हैं फिर भी उनमें से केवल अहंवृत्ति को ही आत्मसाक्षात्कार का एकमात्र अचूक उपाय क्यों मानना चाहिए?

म—स्वयं 'अहम्' शब्द बहुत ही गंभीर तथा अर्थ से परिपूर्ण है। यह शब्द प्रथम व अंतेम अक्षरों से बना हुआ है। 'अ' संस्कृत मूलाक्षर का प्रथम है और 'ह' अंतेम अक्षर है। ये दोनों आदि तथा अंतेम अक्षर यही सुझाते हैं कि इनमें सबका समावेश हो जाता है। इस प्रकार 'अहम्' वास्तव में आत्मा का ही निर्देश करता है, जो तुम्हारे सद्रूप का आधार है।

यद्यपि 'मैं' मात्र को अहंवृत्ति कहा जाता है फिर भी वास्तव में यह वृत्ति मन की दूसरी वृत्तियों जैसी एक नहीं है। सभी वृत्तियाँ एक दूसरे के साथ सम्बंध नहीं रखतीं जब कि अहंवृत्ति तो मन की सभी वृत्तियों के साथ परस्पर सम्बंध रखती है। अहंवृत्ति के बिना दूसरी कोई वृत्ति नहीं टिक सकती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परंतु अहंवृत्ति तो मन की दूसरी किसी भी वृत्ति के आधार के बिना अपने आप टिकी रहती है। इसलिये अहंवृत्ति दूसरी वृत्तियों से स्वभाव से ही बिलकुल भिन्न है।

इस प्रकार अहंवृत्ति के आधार का शोध किसी एकाध स्वरूप का शोध नहीं है। वास्तव में जहाँ से अहंवृत्ति उठती है उस मूल स्थान का ही यह शोध है। अहंवृत्ति दूसरी सभी वृत्तियों की आधार रूपा है। अर्थात् यदि तुम अहंवृत्ति के मूल स्थान का शोध कर उसकी प्राप्ति कर लो तो अहंवृत्ति के सभी स्वरूपों से तुम परे हो जाओगे।

भक्त—अहंवृत्ति में अहं के सभी स्वरूप समा जाते हैं ऐसा यदि मान लें तो भी मात्र इसी वृत्ति को आत्म-विचार के साधन के रूप में क्यों पसंद करना चाहिये?

म—क्योंकि वह तुम्हारे सद्रूप की एक मात्र मूलाधार रूपा है। इसके सिवाय उसके मूल का शोध करना आत्मानुभूति का सीधा मार्ग है। क्योंकि अहं को उसके कारण देह में पकड़ना असाध्य नहीं है? जब अहं कारण देह धारण करता है तब तुम निद्रा में पड़े रहते हो, ऐसी स्थिति में अहं के मूल का शोध किस प्रकार चलाया जा सकता है?

भक्त—आत्मविचार जाग्रत अवस्था में किया जाता है। जब अहं के सूक्ष्म और कारण देह जाग्रत दशा से भिन्न होते हैं तब फिर जाग्रत दशा में की हुई विचारण सूक्ष्म व कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देह का किस प्रकार शोध करती व कैसे उसका नाश भी करती है?

म—अहंविचार द्वारा अहं का नाश होता है इस विषय में कोई शंका ही नहीं है। एक बार मूल का नाश हो जा ने के बाद अहं के सूक्ष्म रूपों का नाश करने का काम ही नहीं रहता।

भक्त—जिसका आधार अहं पर नहीं है ऐसी अखंड केवल आत्मा ही यदि हमारा लक्ष्य हो तो अहंवृत्ति द्वारा ही विचार करने की क्या आवश्यकता है?

म—अहं का स्वभाव ही दृश्य व अदृश्य होने का है। वह भिन्न भिन्न कई रूप धारण करता है। वह अपने वृत्तिव्यापार के अनुसार बंधन, जीव, सूक्ष्म शरीर, अहंकार, संसार, मन आदि नामों से पहचाना जाता है। परंतु वास्तव में वह चित्-जडग्रंथि कहलाता है। अहंवृत्ति के मूल के शोध का आधार चित्-जड़ग्रंथि का चित् अंश ही है। इस कारण से इस साधना का अंतिम परिणाम आत्मचैतन्य की पूर्णानुभूति ही है।

भक्त—ज्ञानी के शुद्धचैतन्य की अनुभूति और 'अहमस्मि' के सर्वसामान्य अनुभव के बीच में क्या सम्बंध है?

म—सच की सच्चिदात्मा ही हृदय है। सच कहें तो तुम ही हृदयरूप हो ऐसा हृदय शब्द का अर्थ सुझाता है। (हृत्+अयम्=मध्ये यही है) हृदय से उद्भूत अहं अपने आधाररूपी आत्मा का भान जाग्रत करता है। उसके सहज स्वरूप में वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुद्ध सत्व है। ज्ञानी का अहं, रजस और तमस से अलिप्त होता है। इसलिए उसका अहं शुद्ध सत्य रूप में दीखता है।

भक्त—ज्ञानी की अहंता शुद्ध सत्व रूप होने मात्र से ही क्या वह सत्य दीखता है?

म—नहीं, ज्ञानी या अज्ञानी के भेद के बिना अहंता जो रूप धारण करती है वह सचमुच भास मात्र होता है। परंतु जाग्रत दशा और जगत को सत्य मानने के भ्रम से अज्ञानी को भी अहं सत्य दीखता है। वह ज्ञानी को दूसरे मनुष्यों की तरह बरतते देखकर उनमें भी जीवभाव होने की कल्पना कर लेता है।

भक्त—यदि ऐसा ही होता है तो ज्ञानी में अहंवृत्ति का व्यवहार कैसे होता है?

म—ज्ञानी में वृत्तिव्यवहार बिलकुल नहीं होता। हृदय रूप बनना ही ज्ञानी का लक्ष्य है। क्योंकि वे और जिसे उपनिषद् प्रज्ञान कहते हैं ऐसा शुद्ध चैतन्य एक और अभिन्न है। प्रज्ञान केवल ब्रह्म हीं है और ब्रह्म प्रज्ञान है।

भक्त—तो फिर इस प्रज्ञान के विषय में अज्ञानी ही क्यों अनजान रहता है?

म—क्योंकि अज्ञानी का हृदय चैतन्य का प्रतिबिंब ही देखता है। वह अंतर-जाग्रति के लिए प्रयत्न नहीं करता। क्योंकि उसका मन केवल बहिर्मुख प्रवृत्तियों में ही निमग्न रहता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्त—सर्वत्र प्रकाशित रहनेवाले हृदय चैतन्य का ज्ञान अज्ञानी को क्यों नहीं होता?

म—जिस प्रकार एक घड़े के अंदर का पानी घड़े की संकुचित जगह में अखंड सूर्य का प्रतिबिंब दिखाता है उसी प्रकार सूक्ष्म वासनाएँ हृदय के अंदर से प्रकट होनेवाले सर्वव्यापी तेजस का आश्रय लेकर मनरूपी प्रतिबिंब दिखलाती हैं। इस प्रतिबिंब को देखकर अज्ञानी स्वयं परिपूर्ण ब्रह्म होने पर भी ऐसे भारी भ्रम में पड़ जाता है कि जिससे वह अपने आप को अल्पजीव समझने लगता है।

जब प्रतिबिंब के साधन का अभाव हो जाता है तब मन की दृश्यता हृदय में समाकर सत्सुख की ज्योति में विलीन हो जाती है और इस प्रकार मन अदृश्य या विलीन हो जाता है।

इसलिये अभ्यासी को इतना अवश्य जानना चाहिए कि श्रद्धा व एकाग्रतापूर्वक अहंवृत्ति के मूल का शोध करना ही उसका कर्तव्य है।

भक्त—परंतु वे जो कोई साधना करते हैं मन के द्वारा जाग्रत दशा में ही करते हैं। तीन दशाओं में से एक दशा में की हुई ऐसी विचारणा स्वयं मन का नाश किस प्रकार कर सकती है?

म—अभ्यासी जाग्रत दशा में अहंवृत्ति के मूल का शोध करता रहता है वह बात सच है। पर उस दशा में उसके मन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का नाश हो जाता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसको अभ्यास के बल के द्वारा अपने आप ज्ञान होता है कि अवस्था त्रय का परिवर्तन वैसे ही स्वयं तीनों अवस्थाएँ भी केवल भास ही हैं जिससे उसकी अंतर्मुखी निष्ठा पर किसी प्रकार का असर नहीं होता।

आत्मविचार तीव्र अंतर्मुख निष्ठा द्वारा ही हो सकता है। अहंवृत्ति के मूल की विचार-साधना द्वारा जिसका दर्शन होता है वही वास्तव में हृदयचैतन्य का प्रकाश है जिसमें मन रूपी प्रतिबिंब पूर्णतया विलीन हो जाता है।

भक्त—तब क्या ज्ञानी को तीन अवस्थाओं के बीच में कोई अंतर ही मालूम नहीं होता?

म—यदि मन ही हृदयचैतन्य की ज्योति में विलीन हो गया हो तो फिर अवस्था भेद क्यों रहेगा? ज्ञानी को तो किसी तरह के भेद बिना तीनों दशाएँ पूर्णतया मिथ्या लगती हैं। परंतु अज्ञानी इस सत्य का दर्शन नहीं कर सकता, क्योंकि वह जाग्रत अवस्था को ही प्रमाणभूत मानता है, जब कि ज्ञानी सत् को ही प्रमाण मानता है। यह सत्य कि जो स्वतःसिद्ध और नित्य शुद्ध चैतन्य है वह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का आधार रूप है। जिसका इस सत्य के साथ तादात्म्य हो जाता है उसके लिए न मन है और न तीनों अवस्थाएँ। इससे न उसको बहिर्मुखता रहती है और न अंतर्मुखता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञानी की सदा जाग्रत दशा होती है, क्योंकि वह अविनाशी आत्मरूप के विषय में सतत और सदैव जाग्रत रहता है। उसकी नित्य स्वप्नावस्था होती है क्योंकि उसको जगत एक बार स्वप्न में दीखता है पर दूसरे ही क्षण पुनः अदृश्य होता दीखता है। उसकी सदा सुषुप्ति अवस्था होती है क्योंकि वह अहर्निश देहादि के भान से रहित होता है।

भक्त—यदि ऐसा ही हो तो क्या मैं यह समझूँ कि श्रीभगवान मुझसे ऐसी ही अवस्था में बोल रहे हैं जिसमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि तीनों दशाएँ एकरूप हो जाती हैं?

म—तुम्हारा मन जाग्रत दशा के हृदय की तरह मर्यादित है, इसलिए तुम इस स्वप्न दशा को जाग्रत दशा कहते हो परंतु तुम्हारा मन आत्मा द्वारा सुषुप्ति में है। इसलिए वास्तव में तुम अब सुषुप्ति दशा में ही हो।

भक्त—मुझे निद्रा निरी शून्यवत् लगती है।

म—इसका कारण यही है कि तुम्हारी जाग्रत दशा चंचल मन के उभड़ने के सिवाय और कुछ नहीं है।

भक्त—मैं शून्यता का ऐसा अर्थ करता हूँ कि निद्रा में मुझे किसी प्रकार का भान नहीं रहे। ऐसी दशा मुझे कुछ भी न होने के बराबर लगती है।

म—किंतु निद्रा में क्या तुम जीवित नहीं थे?

भक्त—नींद में मुझे अपने जीवित रहने का भान नहीं रहता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म—तुम निद्रा में जीवित नहीं थे इस वाक्य द्वारा तुम क्या कहना चाहते हो? तुम सोने गये तब तुम्हारे नाम-रूप क्या कुछ और थे और वे क्या जागने पर बदल गये? क्या तुम राम होकर सोये तो कृष्ण होकर उठे?

भक्त—स्मरण शक्ति के कारण मुझे अपने नाम-रूप का भान रहा ऐसा भी हो सकता है। स्मृति के बल से मैं अपने को राम ही समझ सकता हूँ।

म—ऐसा भान होने पर भी जब तक तद्विषयक सतत ज्ञान न हो तब तक स्मृति भी कैसे रह सकती है?

भक्त—परंतु इस ज्ञान का भी मुझे भान नहीं था।

म—नहीं, ऐसा नहीं। निद्रा में तुमको भान नहीं था ऐसा कहनेवाला कौन है? तुम्हारा अपना मन हीं क्या ऐसा नहीं कहता? परंतु निद्रा में तुम्हारा मन तो तुम्हारे पास नहीं था। इसलिये जिस दशा में तुम निद्राधीन थे उस दशा के विषय में तुम्हारे मन के साक्षी के लिए क्या प्रमाण हैं? निद्रा में तुम्हारे अस्तित्व और भान को झूठा ठहराने के निमित्त तुम्हारे मन को साक्षी देने बुलाने की बात तुम्हारे जन्म को झूठा ठहराने के लिए तुम्हारे पुत्र को साक्षी देने के लिए बुलाने के समान है।

पहले एक बार कहा गया है उस बात का क्या तुम्हें स्मरण है कि अस्तित्व और भान परस्पर विभिन्न है? किसी भी कारण से निद्रा में चाहे तुम अपने अस्तित्व के सम्बंध में इनकार न कर सको

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फिर भी वास्तव में तुम अकेले को इस अस्तित्व का भान था। नींद में तुम्हें जिसका भान न था वह केवल तुम्हारा शरीर ही हैं। तुम्हारी जाग्रत दशा के अंतर्गत शरीर रूप से तुम्हारा अस्तित्व रहता है इस मिथ्या धारणा के फल स्वरूप तुम ऐसे भ्रम में पड़ गये हो कि देहात्मभाव ही तुम्हारी यथार्थ स्थिति है।

मन की तीनों अवस्थाओं से जो अतीत, अविकारी और 'अहमस्मि' के अनुभव का मूलाधार है वही सनातन प्रज्ञान हैं। वही जीव मनुष्य भाव का आधार होकर 'मैं राम हूँ, कृष्ण नहीं' ऐसा अपने विषय में कह सकता है।

प्रज्ञान तीनों दशाओं से अतीत है। तीन दशाएँ चाहे हों या न हों वह अकेला ही सब दशाओं के आधार रूप में जगमगाता है।

वास्तव में अहंवृत्ति के मूल के शोध का तात्पर्य यही है कि तुमको मूल का शोधकर उसी में विलीन हो जाना चाहिये। आत्मविचार की इस दीर्घ साधना द्वारा तुम्हें स्पष्ट दर्शन होगा कि मन और उसकी तीन दशाएँ विद्यमान नहीं हैं; पर हृदय या आत्मा ही कैवल्य दर्शन का नित्य, अखंड चैतन्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

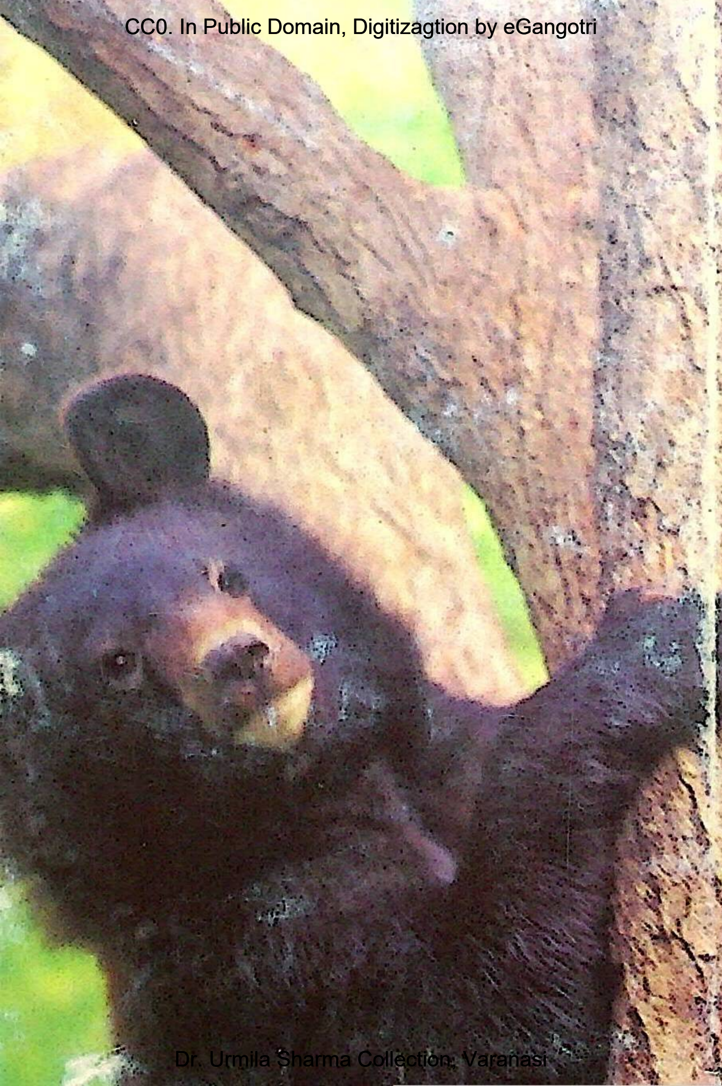

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi